संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित काव्य-मार्ग

एक समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

जय सिंह

निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) किश्वर जबीं नसरीन

रीडर, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००१

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठाङ्क

आभाष

प्रकृति की अठखेलियाँ प्रतिक्षण, प्रतिपल और प्रत्येक स्थल पर नित्य प्रति होती रहती है। कही पत्तो की पायल झनकारती प्रकृति नवोढा की याद कराती है तो कही झरनो का जल पर्वत प्रदेश की पाषाण–शिला पर सिर धुनता नजर आता है। जड–चेतन दोनो इससे प्रभावित होते रहते है। मानव सर्वाधिक सवेदनशील और विवेकशील प्राणी है अत वह प्रकृति के हर क्षण को अपनी मनोदशा के अनुरूप पढता–समझता है। उसके लिए सितारे कही निशा–नवेली के श्रृङ्गार का गलहार है तो कही वही विरहाग्नि शलाका से छिद्रित सुराक है। घनघोर उमडती घटा से यदि कही उसका मन–मोर थिरकने लगता है तो वही घटा कही घनीभूत पीडा भी है। इसी धरातल पर सुख–दु ख या अन्य मनोभावो के प्रसव से काव्य–शिशु का आविर्भाव होता है। मानवीय सवेदना की तीव्रता स्वत प्रस्फुटित होकर काव्य रूप ले लेती है। यही मानव प्रजापति का प्रतिरूप हो जाता है। काव्याभिव्यक्ति या मनोभावो की अभिव्यक्ति का साधन शब्द, अर्थ है। शब्द से वाक्य और वाक्याश का सृजित होना स्वत सिद्ध है। जिस पृष्ठभूमि पर काव्यागमन हुआ है, ठीक–ठीक उस पृष्ठभूमि तक सह्रदय को पहुँचाकर काव्यानुभूति करा देना कवि का अभीष्ट है। पृष्ठभूमि अथवा विषय से शब्दो का आकार–प्रकार निर्धारित होता है और निर्धारित होती है काव्य की गति, विधि और पद्धति भी।

प्रबुद्ध सह्रदय की भावात्मक अन्त सलिला जब ह्रदय का बॉध तोडकर शब्दो के माध्यम से कल–कल निनाद के साथ प्रवाहित होती है, तभी रम्य काव्य कृति की सृष्टि होती है। यह काव्य कृति पाठक को अपूर्व आनन्द प्रदान करती है। वह कभी शब्द–कौतुक से विस्मित होता है तो कभी अलकार–विधान से चमत्कृत। रसानुभूति उसकी चित्तवृत्ति को आर्द्र करके वेद्यान्तरसस्पर्शशून्यत्व तक पहुँचाती है। उसकी भावनाएँ

सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा प्रबल होती है। उसका मानस आश्चर्यचकित होकर पूँछ उठता है कि जीवनानुभूति की जिस विशालता, विविधता एव गहनता का साक्षात्कार उसे आज हो रहा है, जो आनन्द प्राप्त हो रहा है, जिस तन्मयता मे वह वाह्य जगत को विस्मृत कर जाता है उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह अलौकिक है, अनिर्वचनीय है ? क्या हृदय द्वारा साक्षात्कृत को बुद्धि के माध्यम से समझा जा सकता है ? क्या इसे मूक के शर्करास्वाद से अधिक माना जा सकता है ?

उक्त प्रश्नो के उत्तर देने हेतु ही काव्यशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है। इसका कार्य द्विविध है। प्रथम, यह कवि को आलोक प्रदान करता है जिससे उसकी काव्य स्रोतस्विनी अपनी शक्तिमता के साथ समस्त सहृदयो को रसाप्यायित कर सके। उन्हे अलौकिक एव अनिर्वचनीय आनन्दलोक मे प्रतिष्ठित कर सके तथा उसमे उदात्तता एव भव्यता का समावेश कर सके। "द्वितीय वह सहृदय सामाजिक को काव्य प्रक्रिया से परिचित कराता है, जिससे वह लोकोत्तर एव अनिर्वचनीय आनन्द को मूक के शर्करास्वाद के समान मात्र सवेद्य ही न मानकर, किञ्चित् विश्लेष्य भी मानता है और समीक्षण क्षेत्र मे सक्षमभाव से अवतीर्ण होता है। यद्यपि यह सत्य है कि हृदय द्वारा साक्षात्कृत लोकोत्तर आनन्दबुद्धि यन्त्र से विश्लेषित होकर अस्त–व्यस्त सा हो जाता है, तथापि काव्यशास्त्र सहृदय को तिमिर से आलोक की ओर ही ले जाता है और वह काव्य की रहस्यमयी गुत्थियो को सुलझाने का सफलतम् प्रयास सिद्ध होता है। काव्यशास्त्र की ऐसी ही एक गुत्थी है– 'काव्यमार्ग ।

हिमगिरि के हिमनद से निःसृत मन्दाकिनी के जल का कल–कल निनाद कही जन–मन को आह्लादित करता है तो कही उसका मधुर जल तृषितो को रसास्वादित करता है। प्रतिक्षण, प्रतिपल, निरन्तर मचलती जाह्नवी एक ओर शिव की अभिलाषा से पापियो के पापो की अमोघनाशिनी होती है तो दूसरी ओर इस धरा पर भार–स्वरूपा कर्मनासा अपनी विद्रूप

तरगो से अट्टहास करती हुई लोगो के लिए कर्मनाशिनी की पदवी प्राप्त करती है। तृतीय मध्यवर्ती स्थिति होती है जिससे न तो किसी के पाप नष्ट होते है और न ही कर्मो का नाश होता है। इन्ही त्रिविध सरिताओ की गति विधि एव प्रकृति से काव्य भी तुलनीय है। काव्य की प्रकृति से ही काव्य के मार्ग का निर्धारण होता है।

सरिता स्रोतस्विनी स्वय प्रवाहमान होती है। विभिन्न प्रदेशो से गुजरती हुई वह इस धरा पर स्वत जात मार्ग से प्रवाहित होती है। जिस प्रदेश से वह बहती है उस प्रदेश की मृत्तिका की प्रकृति से उसके जल की प्रकृति का निर्धारण होता है। दोमट, चीका युक्त प्रदेश से बहने वाली नदी का जल मधुर होता है जबकि क्षारीय मृत्तिका वाले काव्य–शरीर की प्रकृति प्रदेश, कवि चिन्तन तथा कवि स्वभाव के आधार पर निश्चित होती है। सरल एव मृदुभाषी कवि द्वारा रचित काव्य का मार्ग सरल एव सुग्राह्य होगा जबकि कठोर स्वभाव वाले कवि द्वारा रचित काव्य का मार्ग भी दीर्घ पदावली एव आडम्बर पूर्ण होगा। विदर्भ प्रदेश के निवासियो की भाषा और सस्कृति के अनुसार ही उसके क्षेत्र मे रचित काव्य का मार्ग भी गौड होगा तथा पाञ्चाल या लाट देश की रचनाओ का मार्ग भी पाञ्चाल एव लाट ही होगा।

काव्य के शास्त्रीय अध्ययन पर आचार्यो ने जितने विचार व्यक्त किये है, उस दृष्टि से काव्यमार्ग का सुस्पष्ट एव सुव्यवस्थित विवेचन नगण्य है। काव्यमार्गो की अस्पष्टता एव विभिन्न आचार्यो की मत–भिन्नता के कारण मेरे मन मे उसका विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की प्रेरणा जाग्रत हुई। मैने काव्यमार्ग सम्बन्धी अपनी अवधारणा को प्रस्तुत करने मे किसी प्रकार का सकोच नही किया है। मुझे काव्य–मार्ग अनुशीलन पर प्राचीन से अर्वाचीन काल तक के आचार्यो के विचार सुस्पष्ट प्रतीत नही हुए। कही–कही किसी मार्ग विशेष के कक्ष मे किसी अन्य मार्ग का अतिक्रमण होने से परिस्थिति ने सदिग्धता उत्पन्न कर दी है। कही–कही

दो आचार्यो मे वैचारिक साम्य होते हुए भी काव्यमार्ग नामकरण मे अन्तर है। नि सन्देह ऐसी स्थिति सहृदयो के लिए भ्रमित कर देने वाली है और सम्भवत यही कारण है कि किसी भी काव्यशास्त्री के विचार अपने–आप मे परिपूर्ण नही दिखाई पडते। काव्यमार्गो पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कई मार्गो ~~पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कई मार्गो~~ के नाम भिन्न होते हुए भी एक मार्ग के पर्याय से प्रतीत होते है। यथा– वैदर्भ मार्ग और सुकुमार मार्ग बिल्कुल एक से प्रतीत होते है। ये कुछ ऐसे तथ्य है जिनसे प्रेरित होकर शोध हेतु मैने 'सस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रतिपादित काव्यमार्ग– एक समीक्षात्मक अध्ययन' –जैसे विषय का चयन किया।

स्वभावत लकीर का फकीर न होने के कारण किसी का अन्ध समर्थन मेरे वश की बात नही, इसलिए ऐसी परिस्थिति आने पर मैने स्वतत्र रूप से अपने विचारो को प्रस्तुत किया है। कही–कही समझ की कमी के कारण ही सही, किसी काव्यशास्त्री विशेष के मार्ग सम्बन्धी विवेचन को समझने मे मुझसे भ्रान्ति हुई है, किन्तु वास्तविकता स्पष्ट होते ही मैने उसे उचित रूप मे रखने का प्रयास किया है। कई जगहो पर ऐसी स्थिति आयी है, जहॉ काव्यशास्त्री ने मार्गो का नामकरण तो किया है, किन्तु उसका स्पष्ट विवेचन नही किया है। ऐसी परिस्थिति मे मैने गहन चिन्तन और अन्वेषण करके उसके विचारो को सही रूप मे रखने का प्रयास किया है। मेरे विचार से 'मार्ग' पद का अर्थ परिस्थिति सापेक्ष होता है। वह कभी परिस्थितिवश अपनी व्यापकता को खोकर सकुचित रूप ले लेता है तो कभी सकुचित दृष्टिकोण को छोडकर व्यापक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे मार्ग लक्षण तो अप्रभावित रहता है, किन्तु उसका स्वरूप वैभिन्य हो जाता है। काव्यमार्ग के वैभिन्य का प्रमुख कारण काव्यशास्त्रियो के विचार वैभिन्य का होना है।

सबसे महत्वपूर्ण कथ्य, जिसका कथन अपरिहार्य है, वह है वात्सल्यमयी जन्मदात्री जननी को शतश नमन, जिनके आशीर्वाद के बिना एक पग भी

आगे बढ पाना मेरे लिए सम्भव न होता। चूँकि यह सम्पूर्ण जीवन ही उनकी देन है अत उनके ऋण से उऋण हो पाना सम्भव नही। ज्ञान रूपी समुद्र की मॅझधार मे फॅसा हुआ जिस नैया का सहारा लेकर मै इस विद्या वारिधि के शोध प्रबन्ध की पूर्णता रूपी तीर को पाने मे समर्थ हुआ वह हैं ममतामयी मातृवत् प्रकाण्ड विदुषी निर्देशिका डॉ (श्रीमती) किश्वर जबी नसरीन। जिनके ज्ञान सागर का पुट पाकर परिपुष्ट हुई मेरी बुद्धि इस शोध को पूर्ण करने के योग्य बनी। उनके चरण–वन्दन को मस्तक प्रतिक्षण नत है।

पितृदेव के अवसान के उपरान्त पोषण का भार जिनके कन्धो पर आता है वह है मेरे मॅझले भाई श्री जीवन सिह, जिनके असीम स्नेह और आर्शीवाद से मै इस योग्य बना। जीवन मे प्रतिक्षण उन्नति करते रहने की प्रेरणा और प्रोत्साहन उन्ही से प्राप्त होता रहा है। यद्यपि उनकी इच्छा मुझे एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप मे देखने की सदैव रही है, जिसे मै अभी तक पूर्ण नही कर पाया हूँ, किन्तु इस शोध प्रबन्ध को यदि मै पूर्ण कर सका हूँ तो उनकी त्यागमयी प्रेरणा से ही। एक आदर्श अग्रज का कर्तव्य जिस लगन से उन्होने निभाया है उसकी मिसाल मिलना दुर्लभ है।

निश्छल एव नि स्वार्थ मित्रता इस युग मे कल्पना से परे की चीज है, फिर भी इसका सहज लाभ दिया मेरे दो मित्रो ने, वह है श्री प्रकाश नारायण चौरसिया एव श्री जवाहर लाल वर्मा। एक ओर प्रकाश जी ने मुझे अपेक्षित सहयोग दिया तो दूसरी ओर वर्मा जी ने बडे भाई की तरह फटकार की भाषा मे मुझे इस कार्य को पूर्ण करने के लिए प्रेरित किया। कुछ विशेष विद्यार्थी एव मित्र, जिन्होने मुझे अमूल्य सहयोग दिया, उनमे श्री देवीशरण त्रिपाठी और श्री रामचन्द्र पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय है। इस कार्य को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने का प्रोत्साहन अनुपम सिह एव आनन्द सिह से मिला। ये सभी मुझे अपने जैसे लगते है, प्रिय है अत निश्चित रूप से धन्यवाद के पात्र है।

सस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष एव परमपूज्य गुरू प्रो सुरेश चन्द्र पाण्डेय ने समय—समय पर यथोचित एव आवश्यक सुझाव दिया, जिसके लिए मै उनका कृतज्ञ हूँ। मेरी किशोरावस्था के गुरू श्री उदय वीर सिह को मै आजीवन श्रद्धा के साथ याद रखूँगा जिनकी प्रेरणामयी शिक्षा एव सदुपदेशो से गहन अध्ययन की ओर उन्मुख हुई मेरी बुद्धि ने मुझे आज इस मुकाम तक पहुँचाया।

राजकीय महिला महाविद्यालय, अम्बारी, आजमगढ के प्राचार्य डॉ राम नारायण राम का भी मै आभारी हूँ जिन्होने शोध प्रबन्ध की पूर्णता के अन्तिम चरण मे टङ्कण एव शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के लिए मेरे आकस्मिक अवकाशो को स्वीकृति प्रदान की। डा अरूण कुमार गौड ने शोध ा कार्य के लिए सदैव प्रोत्साहित किया तथा डा केआर धामा ने एक मित्र की भॉति सहयोग दिया। अत इन सभी लोगो को मै धन्यवाद देता हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग की वर्तमान अध्यक्षा डॉ मृदुला त्रिपाठी, पुस्तकालयाध्यक्ष एव अन्य कर्मचारियो के प्रति भी मै आभार व्यक्त करता हूँ। इन लोगो का यथोचित सहयोग मुझे— समय—समय पर मिलता रहा है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ऐसे सभी लेखको एव प्रकाशको का भी मै आभारी हूँ जिनसे गन्तव्य तक पहुँच पाने की प्रेरणा मिली है।

अन्त मे सर्वाधिक धन्यवाद का पात्र टङ्कक है जिनकी कार्य के प्रति प्रतिबद्धता का प्रतिफल मेरे इस शोध प्रबन्ध का पुस्तकाकार रूप है। इनके अथक परिश्रम ने ही समय पर इसे यह स्वरूप प्रदान किया।

पुनश्च सभी शुभेच्छुको के प्रति सादर विनम्रताज्ञापन।

विनयावनत

(जय सिंह)

सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रथमोन्मेष
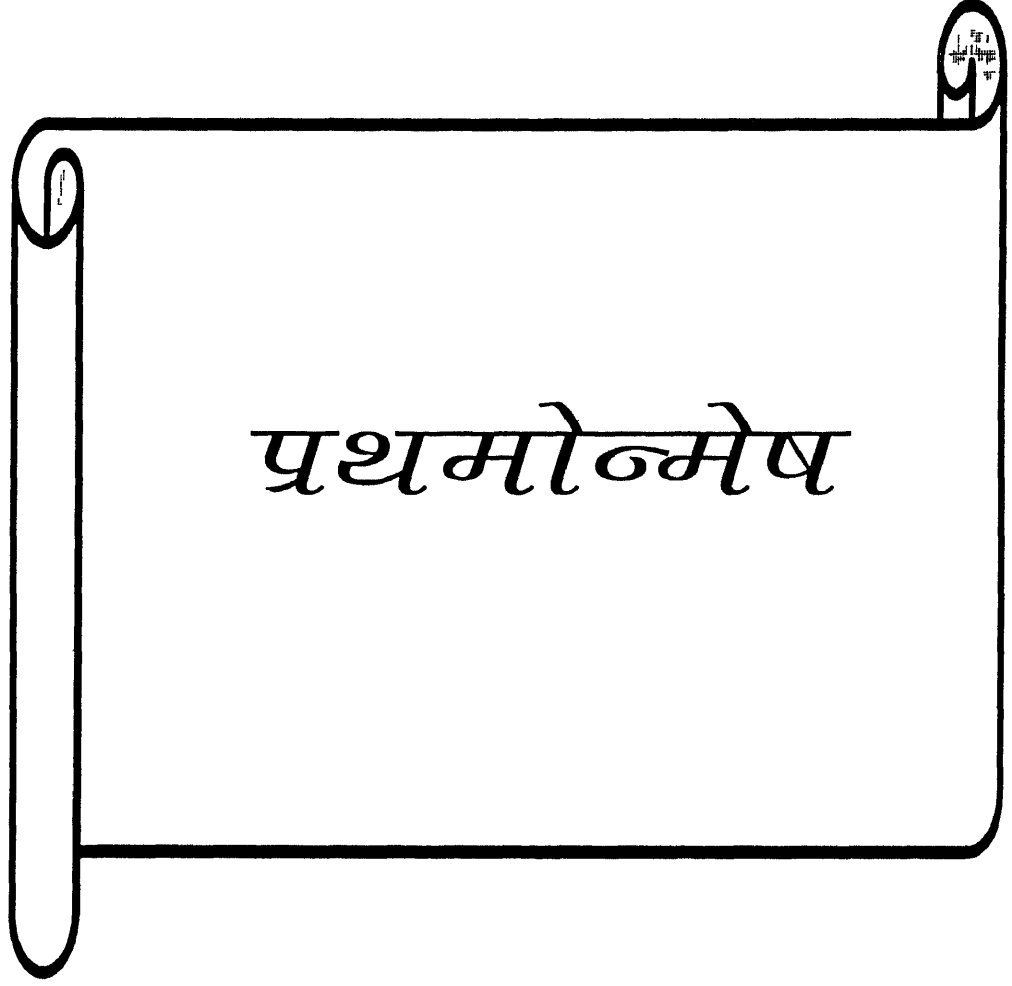
संस्कृत काव्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

(क) काव्य शास्त्र का उद्भव

अबाध गति से प्रवाहित पवन के निरन्तर प्रवाह के सदृश एव कल–कल निनादिनी, हिमनद की दुहिता सरिता की अबाध–पावन धारा के सदृश साहित्य की निरवद्य हृद्य स्रोतस्विनी कवियो के हृदय के भावो के शब्दानुवाद स्वरूप निरन्तर प्रवाहित रहती है, और प्रवाहित होती है उसकी गति, विधि, उद्गम, स्रोत आदि के पर्यवेक्षण एव समालोचन की निरन्तर धारा। इसी साहित्य के विभिन्न तत्वो के आलोचन–प्रत्यालोचन से सम्बन्धित ग्रन्थो (शास्त्रो) को ही काव्य–शास्त्र की अभिधा से अभिहित किया जाता है।

'क्षणे–क्षणे यन्नवतामुपैति' की पथगामिनी, समय–समय पर सुरचित काव्यो के आलोचन–प्रत्यालोचन की यह धारा यद्यपि नाट्यशास्त्र के पश्चाद्वर्ती काल से प्रारम्भ होती है, किन्तु इसके अकुर वैदिक सस्कृत के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद से ही प्रस्फुटित होने प्रारम्भ हो गये थे। ऋग्वेद मे रस, अलकर, रीति आदि शब्दो का अनेक स्थानो पर प्रयोग हुआ है और उनके उदाहरण भी प्राप्त होते है। वेदो मे उपमा, अतिशयोक्ति और रूपक के सुन्दर उदाहरण मिलते है तथा उपनिषदो मे भी ऐसे अलकारो के अनेक उदाहरण भरे पडे है। ऋग्वेद की उषा सम्बन्धी ऋचा मे उपमालकार का सुन्दर सगुम्फन हुआ है–

अभ्रातेव पुस एति प्रतीची, गर्तारूगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।[1]

---

१ ऋग्वेद १/१२४/७

मानव ने जिस दिन से कवि रूप प्राप्त किया, उसी दिन से वह भावुक आलोचक भी बन बैठा, क्योकि प्रतिभा दो प्रकार की होती है– एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। आचार्य राजशेखर ने इन दोनो प्रकार की प्रतिभावो के बारे मे लिखा है–

'सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। क पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति, भावकश्च कवि इत्याचार्या।'[1]

कवि स्वय भी अपनी कविता का पर्यालोचन करता है इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता है। और तो और, भावुक आलोचक भी कविता का पूर्ण रसास्वादन कवि रूप मे बैठकर ही पाता है। इस प्रकार कवि एव भावुक की स्थिति समान है। वैदिक ऋषि ही हमारे प्रथम कवि है और वे ही हमारे प्रथम आलोचक भी है। वैदिक ऋषि ने ही उस काव्यवाणी से सौदर्य का अनुसन्धान किया था, जो कि सहृदय पाठक के सम्मुख अपने सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है। वह असहृदय व्यक्ति के हाथो मे अपने को समर्पित नही करती, क्योकि असहृदय व्यक्ति उसे देखते हुए भी अन्धा बना रहता है, सुनते हुए भी बहरा रहता है। इस प्रकार वैदिक ऋषि ने स्वय ही काव्यालोचना का प्रारम्भ कर दिया था। वह स्वय ही सर्वप्रथम काव्यास्वाद करने वाला बनता है और यही से काव्यालोचन का प्रारम्भ हो जाता है।

ऋग्वेद के अन्यान्य मत्रो मे उपमा, श्लेष, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक और रूपक आदि अलकारो के दर्शन होते है। उपनिषद् साहित्य मे भी रूपकातिशयोक्ति, अलकारो के अतिरिक्त रस एव छन्द विषयक वैदिक ऋषियो की जानकारी का भी पता चलता है। दाशराज्ञ सूक्त मे युद्ध का सुन्दरतम् वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जहॉ हमे इन्द्र–स्तुति प्रसग मे वीर रस के दर्शन होते है। इसी प्रकार विभिन्न ऋग्वैदिक सूक्तो मे श्रगार रस की मधुर अभिव्यक्ति भी मिलती है। पुरूरवा–उर्वशी सम्वाद, विप्रलम्भ

---

१ काव्यमीमासा, पृ १२, १३

श्रगार का मनमोहक रूप प्रस्तुत करता है। यम—यमी सवाद भी कुछ इसी प्रकार का है। अक्ष सूक्त मे जुआरी का करूण विलाप करूण रस की ओर सकेत करता है तो हास्य रस का भी इस सूक्त मे अभाव नही है। समग्र ऋग्वेद छन्दो—बद्ध है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वैदिक कविता के साथ—साथ वैदिक कवि की दृष्टि काव्यशास्त्रीय तत्वो की ओर रही थी।

वेदो के उपरान्त यास्क का निरूक्त कुछ स्पष्ट रूप मे हमे काव्यशास्त्र विषयक सकेत प्रदान करता है। यास्क के निरूक्त मे उपमा अलकार का सकेत—भूतोपमा रूपोपमा सिद्धोपमा लुप्तोपमा आदि के नाम से किया जाता है। यही नही उसने तो उपमा अलकार का लक्षण किसी पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक आचार्य के नाम से उद्धृत भी किया है— 'अथात उपमा यद् अतद् तत सहशमिति गार्ग्य ।' इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि यास्क (७०० ई पू) से पूर्व भी काव्यशास्त्र विषयक मान्यताएँ स्थापित की जा रही थी। कुछ मान्यताएँ स्थापित की जा चुकी थी जिनका सकेत विभिन्न ग्रन्थो मे मिलता है।

सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्य कल्पद्रुम' ग्रन्थ के यथासख्यालकार प्रकरण मे भागुरी का एक काव्यशास्त्र विषयक मत उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक लोचन मे भागुरी का एक रस विषयक मन्तव्य दिया है।[1] यह भागुरी वैयाकरण भागुरी ही था जिसकी गणना वायु, भारद्वाज, चाणक्य आदि पुरातन महर्षियो की कोटि मे की गयी है। वैयाकरण पाणिनि (५०० ई पू) ने अपनी अष्टाध्यायी मे उपमा शब्द का पारिभाषिक प्रयोग करने के साथ ही उपमित, उपमान एव सामान्य आदि धर्मो का भी सकेत किया है। रामायण, महाभारत, कालिदास, भास आदि के ग्रन्थो मे भी काव्यशास्त्र विषयक अनेक तथ्यो की सत्ता मिलती है। द्वितीय शतक के जूनागढ स्थित रूद्रदामन के शिलालेख मे काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग मिलता है।

---

१ ध्वन्यालोक लोचन, तृतीय उद्योत, पृ ३८६

'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालकृत गद्य पद्य।'

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परम्परा की सर्वागपूर्ण निश्चित सूचनाएँ हमे इस काल तक के किसी भी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होती है। उपर्युक्त प्रसगो के आधार पर हम यह अनुमान अवश्य ही कर सकते है कि काव्यशास्त्र का उदय अवश्य ही हो चुका था। राजशेखर ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध नटराज शङ्कर से जोडा है। शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाशन' मे नाट्यशास्त्र पर रचित 'योगमाला ग्रन्थ को भगवान शङ्कर से सम्बद्ध कर 'योगमाला' के द्वारा भगवान शङ्कर के विवस्वान को ताण्डव लास्य, नृत्त और नर्तन का उपदेश दिया था ऐसा सकेत किया है। राजशेखर के अनुसार शङ्कर ने ब्रह्मा को सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश दिया तथा ब्रह्मा ने अपने मानसजात १८ शिष्यो को यह ज्ञान प्रदान किया। उन अट्ठारह शिष्यो ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अट्ठारह भागो मे विभक्त कर प्रत्येक भाग पर एक ग्रन्थ लिखा है।

'तत्र कविरहस्य सहस्राक्ष समाम्नासीत, औक्तिक मुक्तिगर्भ, रीतिनिर्णय सुवर्णनाभ, आनुप्रासिक प्रचेता, यमोयमकानि, चित्र चित्राङ्गद्, शब्दश्लेष शेष, वास्तव पुलस्त्य औपम्यमौपकायन, अतिशय पाराशर, अर्थश्लेषमुतश्य, उभयालडकारिक कुबेर, वैनोदिक कामदेव, रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर, दोषाधिकरण धिषण, गुणोपादानिकमुपन्यु, औपनिषदिक कुचमार इति।'[1]

इन दोनो ही आचार्यो द्वारा प्रदत्त नामावली मे बहुत से नाम तथा उनकी सत्ता प्रामाणिक नही है, किन्तु 'भाव प्रकाशन' मे नारदमुनि का नाम आया है और आज बडोदा से प्रकाशित 'नारद सगीत' नामक ग्रन्थ सम्भवत उन्ही का है। इसी प्रकार राजशेखर द्वारा प्रदत्त नामावली मात्र कवि की कल्पना ही नही है, क्योकि इस सूची मे भरत तथा नन्दकेश्वर के नाम भी है, जिनके ग्रन्थ आज प्राप्त एव प्रकाशित भी है, फिर नामो के ऊपर

१ काव्यमीमासा १/१ (अध्याय १, पृ १)

अविश्वास करना सगत नही है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे भी सुवर्णनाभ, कुचमार आदि प्राचीन राजशेखर द्वारा सकेतित नाम मिलते है। इन नामो की पुष्टि वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी हो जाती है। भरत ने स्वय भी अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय मे कोहल, वास्त्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक आचार्यो का उल्लेख किया है।

अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव भारती मे एक स्थान पर लिखा है कि नाट्यशस्त्र की कुछ आर्याएँ पूर्वाचार्यो की है। जिन्हे भरत ने अपने ग्रन्थ मे समाविष्ट कर लिया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य तुम्बक, चारायण, सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणी, व्यास, आजमेय, कात्यायन, राहुल, शक्तिगर्भ घण्टक आदि आचार्यो का नामोल्लेख भावप्रकाशन, नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती आदि ग्रन्थो मे मिलता है। इन सभी प्राप्त नामो के आधार पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी मे काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भले ही ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है, किन्तु इनकी सत्ता के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थो मे देखने को मिलते है।

वैदिक काल से लेकर ईसापूर्व ५०० वर्ष पाणिनि मुनि के काल तक काव्यशास्त्र विषयक पर्याप्त अध्ययन अध्यापन हुआ है, इसके सकेत मिलते है, किन्तु प्रामाणिक शास्त्रीय निरूपण हमे भारत के नाट्यशास्त्र तथा इन्ही के समसामयिक नन्दिकेश्वर के 'अभिनय दर्पण' मे मिलता है। कुछ समय पूर्व भरत एव नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति के रूप मे मान्य थे, किन्तु अभिनय दर्पण ग्रन्थ के प्रकाशित होने के उपरान्त लगभग यह धारणा पूर्णत परिवर्तित हो चुकी है। अब यह प्राय निश्चित मत है कि नन्दिकेश्वर एव भरत दोनो का भिन्न व्यक्तित्व है। भरत के स्वय विभिन्न उद्धरणो से यह भी प्राय निश्चित है कि नन्दिकेश्वर भरत से पूर्व हुए थे।

'काव्यमीमासा' मे प्राप्त 'रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर' से पता चलता है कि नन्दिकेश्वर इस विषय के प्रथम आचार्य थे। कामशास्त्र व सगीतशास्त्र मे उनके आचार्यत्व की घोषणा की गयी है। नन्दिकेश्वर के नाम से—

'योगतारावली', 'नन्दिकेश्वरतिलक , 'प्रभाकरविजय', लिग-धारणचन्द्रिका, आदि परस्पर विरोधी सम्प्रदायो से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तके उपलब्ध है किन्तु इन सभी पुस्तको का रचयिता एक ही नन्दिकेश्वर रहा होगा, इसमे सन्देह है। मद्रास की खोज रिपोर्ट मे नन्दिकेश्वर के नाम सेताललक्षण तथा 'तालादि लक्षण ग्रन्थो की चर्चा हुई है। इसी आधार पर मनमोहन घोष ने सगीत को उनका प्रिय विषय माना है। इनके व्यक्तित्व के विषय मे विभिन्न मत है। इन्हे कुछ विद्वान् तत्र, पूर्व मीमासा, लिगायत, शैव आदि सिद्धान्तो का अनुयायी मानते है तो कोई इन्हे शिव का अवतार मानते है और दक्षिण मे इनकी पूजा का विधान है, इसका सकेत करते हुए इन्हे दाक्षिणात्य भी सिद्ध करते है। भाव प्रकाशन मे शिव की आज्ञा से ये भरत तथा उनके पाच शिष्यो को नाट्यवेद की शिक्षा देते है। भरत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा अथवा प्रेरणा नन्दिकेश्वर से प्राप्त हुई थी। नाट्यशास्त्र मे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया गया है कि तण्डु दूसरा नाम नन्दिकेश्वर ने अगहारो, करणो और रेचको के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी। अभिनव भारती मे भी नन्दिन और भरत को तण्डु और मुनि इन दूसरे नामो से सकेतित किया गया है। रामकृष्ण कवि ने भी दोनो को एक मानक 'नन्दीश्वर सहिता' उनकी रचना स्वीकार की है जो कि आज अभिनय दर्पण के रूप मे प्राप्त है। नाट्यशास्त्र और अभिनय दर्पण की विषय सामग्री का तुलनात्मक विवेचन करने पर वाचस्पति गैरोला ने 'अभिनय दर्पण' को प्राचीन रचना माना है।[१]

उपनिषद् काल के बाद ज्ञान और शास्त्र के अनुशीलन की, विषय विभाग से अलग–अलग परम्पराएँ चल पडी– दर्शन, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण आदि पर काव्य रचनाकार कवियो का एक भिन्न सम्प्रदाय रहा, कवि और उनके काव्य को शास्त्र चिन्तन की कोटि मे नही लिया गया। उनका छन्द शास्त्र तो वेदाग था, इसीलिए बाद मे भी छन्दो के विवेचन की परम्परा बनी रही, किन्तु काव्यशास्त्र के विवेचन का आरम्भ

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ ६४७

बहुत बाद मे हुआ और शास्त्र सज्ञा तो नाट्य को पचम वेद और शास्त्र मानने के बाद हुई। व्यास के 'जय काव्य की काव्य रूप मे नही, पचम वेद सभी ज्ञान राशियो के एकत्र समुच्चण के रूप मे ही प्रतिष्ठा हुई है। वह युग शास्त्रो का युग था देव भाषा सस्कृत मे शास्त्रो का चिन्तन हो रहा था, ऋषि और विद्या पारगत स्नातक शास्त्रो के अनुशीलन मे अपना समय देते थे, दूसरी ओर लोकभाषा के प्रवीण लोक कवि काव्य और नाटक की रचनाओ से लोक जीवन को तृप्त कर रहे थे। उन्ही लोक कवियो से कालिदास आदि को पुन सस्कृत भाषा मे काव्य रचना का विषय मिला। कालिदास का रघुवश महाकाव्य लोक कवियो की 'राजावली' (राजवशावली) परम्परा का काव्य है। ऐसी ही राजवशावली की परम्परा मे इतिहास और काव्य की समन्वित रचना कल्हण ने 'राजतरगिणी' लिखी और युधिष्ठिर के काल से उसका आरम्भ किया। बिल्हण ने 'विक्रमाकदेवचरित' के प्रथम सर्ग मे राजवशावली गाने की इसी प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। जिस प्रकार आचार्य भरत ने नाट्य को लोकवृत्तानुकरण और उत्तमाधममध्यम नरो का कर्म सश्रय कहा है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरणा भी लोक कवियो से सस्कृत कवियो को मिली—यह एक सिद्ध बात है। उनकी काव्य शैलियो को परिष्कृत कर काव्यशास्त्र का अभिनव रूप सामने आया।

ख काव्यशास्त्र का विकास

सस्कृत साहित्य मे 'काव्यशास्त्र' विषयक ग्रन्थो की एक विस्तृत परम्परा रही है। अति प्राचीन काल से ही तत्सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना की गयी है। वैदिक काल के साहित्य मे ही काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्व दृष्टिगोचर होते है, किन्तु काव्य समालोचना के क्षेत्र मे प्राचीनतम् उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनि (ई पू ५०० से ई पू २०० के मध्य) का 'नाट्यशास्त्र' है। सस्कृत काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि से प्राप्त होता है। यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' का प्रधान लक्ष्य नाट्य के विभिन्न तत्वो का विवेचन

करना है, तथापि यहाँ काव्यागो का भी निरूपण किया गया है। अत नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर परवर्ती सस्कृत आचार्यो ने काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो की रचना की।

मूलत काव्यशास्त्र पर स्वतत्र ग्रन्थ की रचना करने वाले प्रथम आचार्य भामह है। आद्य आलकारिक के रूप मे विख्यात आचार्य भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध) ने काव्यालकार नामक ग्रन्थ की रचना की। अलकारशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परम्परा से मुक्त कर स्वतत्र शास्त्र के रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को प्राप्त होता है। इसके पश्चात अनेक आचार्यो ने इस परम्परा को आगे बढाया। दण्डी (अष्टम शताब्दी) का 'काव्यादर्श', उद्भट (आठवी शताब्दी का अन्त तथा नवम् शताब्दी का प्रारम्भ) का –

'काव्यालकार सार सग्रह', वामन (८वी शताब्दी का अन्त और ९वी शताब्दी का प्रारम्भ) का काव्यालकार सूत्र', रूद्रट (नवम् शताब्दी) का 'काव्यालकार' आनन्दवर्धन (नवम् शताब्दी) का 'ध्वन्यालोक, राजशेखर (दशम शताब्दी का प्रारम्भ) की 'काव्यमीमासा, कुन्तक (दशम शताब्दी का अन्तिम भाग) द्वारा रचित 'वक्रोक्ति जीवित' महिमभट्ट का 'व्यक्ति विवेक, भोज राज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'श्रृगार प्रकाश', क्षेमेन्द्र कृत (२२वी शताब्दी का प्रारम्भ) 'औचित्य विचार चर्चा, रूय्यक का 'अलकार सर्वस्व', हेमचन्द्र (१०८८ ई – ११७२ ई) का 'काव्यानुशासन', विश्वनाथ (१४वी शताब्दी) का 'साहित्य दर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शताब्दी) का 'रसगगाधार' आदि प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इन आचार्यो के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यो ने भी इस विषय पर ग्रन्थो का सृजन किया। इस प्रकार भामह के पश्चात तो काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो की रचना का प्रवाह निरन्तर बहता गया है और १८वी शताब्दी तक इसके सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने वाले मौलिक ग्रन्थो की रचना होती रही। इस सम्पूर्ण समय मे काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का जो क्रमिक विकास हुआ उसको चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है–

१ प्रारम्भिक काल (वैदिक युग से लेकर भामह के पूर्व तक)

२ रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक अर्थात्, ६०० विक्रमी से ८०० विक्रमी तक)

३ निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक अर्थात् ८०० विक्रमी से १००० विक्रमी तक)

४ व्याख्या काल (मम्मट से लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक, अर्थात् १००० विक्रमी से १७५० विक्रमी तक)

१ प्रारम्भिक काल

सस्कृत काव्यशास्त्र की रचना का प्रारम्भ कब से हुआ इसको निश्चित करना कठिन ही नही, अपितु असम्भव प्रतीत होता है। काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध है वह भरत का नाट्यशास्त्र ही है, किन्तु कतिपय आचार्यो का मत है कि अग्नि पुराण ही काव्य शास्त्र का आदि ग्रन्थ है। अत सर्वप्रथम अग्नि पुराण का विवेचन करके काव्यशास्त्रीय परम्परा का अवलोकन करना आवश्यक होगा।

'काव्यप्रकाशादर्श' के लेखक महेश्वर का कथन है कि भरतमुनि ने 'अग्निपुराण' के आधार पर अलकार शास्त्र का कारिकाओ के आधार पर प्रणयन किया। अलकारशास्त्र के किसी प्राचीन आचार्य ने अग्निपुराण का उल्लेख भी नही किया प्राय सभी आचार्यो ने भरत के नाट्यशास्त्र का ही बार–बार उल्लेख किया है। अत वही अलकारशास्त्र का आद्य ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु अग्नि पुराण एक विश्वकोष है, जिसमे काव्य–लक्षण, काव्य–भेद, कथा–आख्यायिका के साथ–साथ अन्यान्य काव्योपकरणो का विवेचन किया गया है। अग्नि पुराण के अलकार विवेचन पर 'काव्यादर्श' तथा भामह के अलकार निरूपण का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि ध्वन्यालोक मे प्रतिष्ठित ध्वनि सिद्धान्त से भी अग्निपुराणकार परिचित थे। अत अग्निपुराण को साहित्यशास्त्र की प्रथम कृति स्वीकार नही किया जा सकता है।

सस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा मे नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि का स्थान अग्रणी है। काव्यशास्त्र विषयक जो प्राचीनतम् ग्रन्थ उपलब्ध है वह नाट्यशास्त्र ही है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कब हुई ? यह विवाद का विषय है। कुछ विद्वानो का मत है कि यह एक काल की रचना नही है अपितु शताब्दियो के प्रयास का प्रतिफल है। प्रो कीथ के अनुसार नाट्यशास्त्र का समय ईसा की तृतीय शताब्दी के पूर्व नही हो सकता है। कालिदास के 'कुमारसम्भव महाकाव्य मे मुनि भरत का स्पष्ट उल्लेख है—

मुनिना भरतेन य प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्ध ।

ललिताभिनय तामद्य भर्ता मरूता दृष्टुमना स- लोकपालः।।[१]

नाट्यशास्त्र के अन्त साक्ष्य से भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। उसमे ऐन्द्र व्याकरण तथा यास्क के उद्धरण तो है, किन्तु पाणिनीय व्याकरण के नही। नाट्यशास्त्र के तीन अश है— गद्य भाग, सूत्र विवरण स्वभाव कारिका तथा अन्य श्लोक। इसमे विविध ललित कलाओ का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे नाटक की उत्पत्ति तथा रगमच आदि का विशद विवेचन किया गया है। अभिनय तथा सगीत के अतिरिक्त भावी अलकारशास्त्र के विविध अगो का विवेचन भी नाट्यशास्त्र मे उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के छठे—सातवे अध्यायो से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि इन्होने विभावादि से रस—निष्पत्ति तथा रसो के वर्ण व देवतादि का उल्लेख किया है। सप्तदश अध्याय मे उपमा, रूपक, यमक और दीपक अलकारो का तथा १० काव्य गुणो एव १० काव्य दोषो को निरूपित किया। रस के प्रति भरत का पक्षपात सर्वथा स्पष्ट ही है, क्योकि इन्होने नाट्य के सम्प्रेषण भाव के अन्तर्गत आन्तरिक वस्तु के रूप मे रस का वर्णन किया है, जबकि अलकारो की चर्चा इन्होने वागभिनय के अन्तर्गत नाटक के बाह्य प्रसाधन के रूप मे की है। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे 'रस तो मूल सम्प्रेष्य वस्तु है, किन्तु 'अलकार' सम्प्रेषण का माध्यम मात्र।

---

१ कुमारसम्भवम्—२/२८

भरत प्रणीत नाट्य–शास्त्र साहित्यशास्त्र का अनूठा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर यथा समय अनेक टीकाएँ लिखी जाती रही थी, जिनमे अभिनव गुप्त, उद्भट, लोल्लट तथा शकुक आदि की टीकाएँ उल्लेखनीय है। अत उनकी महत्ता का एक मात्र कारण तत्प्रणीत नाट्यशास्त्र ही है, जिसमे साहित्य के उपकरणो का यथातथ्य विवेचन किया गया है।

भरतमुनि के पश्चात तथा आचार्य भामह से पूर्व मेधावी नाम के आचार्य उद्धरणीय है। यद्यपि तत्प्रणीत कोई भी ग्रन्थ साहित्य जगत मे उपलब्ध नही है तथापि अलकारशास्त्र सम्बन्धी मन्तव्यो के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थो मे मिलते है। राजशेखर, भामह तथा नमिसाधु ने उनका उल्लेख भी किया है।

२. रचनात्मक काल

काव्यशास्त्र के विकास के दूसरे क्रम को रचनात्मक काल कहा जा सकता है। यह युग भामह से प्रारम्भ होता है और आनन्दवर्धन से पहले तक का है। इस युग मे काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायो का विकास हुआ था। इन सम्प्रदायो का तथा इनके प्रतिपादक प्रमुख आचार्यो का उल्लेख अधोवत् किया जा सकता है–

क अलकार सम्प्रदाय – भामह, दण्डी, उद्भट, रूद्रट।
ख रीति सम्प्रदाय – वामन।
ग रस सम्प्रदाय – भरत के रस सूत्र के व्याख्याकार।

भामह

साहित्यालोचना का प्रथम आचार्य भामह को माना जाता है। रूय्यक न केवल इनकी चिरन्तन आलकारिक के रूप मे गणना करते है अपितु 'अलकार प्रजापति' कहकर अलकार मीमासा का आद्याचार्य भी घोषित करते है। भामह ऐसे आचार्य है, जिन्होने काव्य–दृष्टि से अलकार को और उसकी प्राणभूत वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व मानकर काव्यालोचना का

एक नवीन शास्त्र के रूप मे प्रारम्भ किया। भामह अलकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य थे। 'कात्यालकार' अलकारशास्त्र की प्रथम व स्वतत्र रचना है। इसमे ६ परिच्छेद तथा ४०० पद्य है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य प्रयोजन, काव्य स्वरूप तथा भेदो का विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद मे माधुर्य, ओज, तथा प्रसाद गुणो का तृतीय परिच्छेद मे अलकारो का चतुर्थ परिच्छेद मे काव्य–दोषो का, पञ्चम परिच्छेद मे प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त तथा प्रमाण आदि के स्वरूप का विवेचन करते हुए न्याय विरोधी दोष का वर्णन किया है और षष्ठ परिच्छेद मे शब्द शुद्धि पर विचार किया गया है।

आचार्य भामह ने 'युक्त लोक स्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक्' द्वारा काव्य मे रसयोग का नियोजन किया है

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।

प्रथमालीढधव. पिबन्ति कटुभेषजम्।।[१]

काव्यालकार पर उद्‌भट की 'भामह वृत्ति' अथवा 'भामह विवरण नामक टीका थी, जो उपलब्ध नही है। अभिनव गुप्त ने भी 'ध्वन्यालोक लोचन' मे उनका लक्षणकार के रूप मे निर्देश किया। काव्यप्रकाशकार ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए 'रूपकादिरलकार' तथा 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति', भामह के ग्रन्थ से उद्धृत किया है। अत भामह ने अपने प्रसिद्धि प्राप्त ग्रन्थ द्वारा साहित्य शास्त्र की महती सेवा की। सक्षेप मे उनकी देन है–

क 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहते हुए शब्दार्थ युगल के सामञ्जस्य को काव्य माना।

ख भरत प्रतिपादित २० गुणो का माधुर्य ओज तथा प्रसाद तीन गुणो मे अन्तर्भाव किया।

ग अलकारो का व्यवस्थित विवेचन तथा वक्रोक्ति को अलकारो का बीज स्वीकार किया।

---

१ भामह – काव्यालकार ५/३

इस प्रकार भामह साहित्य ससार के वे आचार्य है जिन्होने भारतीय अलकारशास्त्र का शास्त्रीय विवेचन किया।

दण्डी

काव्यादर्श के प्रणेता आचार्य दण्डी जहॉ एक ओर रीति सम्प्रदाय के पोषक भी है। 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के आधार पर ये महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे, किन्तु भारवि और दण्डी का यह सम्बन्ध सर्वथा निराधार ही सिद्ध हुआ। यद्यपि दण्डी का समय निश्चित नही है तथापि विद्वानो ने इनसे पूर्व शूद्रक तथा बाणभट्ट का उल्लेख किया, क्योकि 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' यह मृच्छकटिक का पद्य काव्यादर्श मे उद्धृत किया गया है तथा इनकी रचना मे बाणभट्ट के भावो की छाया परिलक्षित होती है। नवम शताब्दी के ग्रन्थो मे भी दण्डी का नामोल्लेख प्राप्त होता है। अत उनकी अन्तिम सीमा नवम् शताब्दी के पश्चात नहीं हो सकती। तथापि नवीन विवेचना के अनुसार सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही दण्डी का समय माना जाता है।

दण्डी द्वारा विरचित तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते है— दशकुमारचरित, छन्दोविचिति तथा काव्यादर्श इनमे काव्यादर्श अलकारशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका साहित्यशास्त्र मे उल्लेखनीय स्थान है। इसमे चार परिच्छेद है तथा श्लोक सख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य लक्षण, काव्य भेद, वैदर्भी, गौडी, रीति, दसगुण, प्रतिभा, श्रुत और अभियोग नामक तीन काव्य हेतुओ का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद मे ३५ अलकारो का सोदाहरण निरूपण किया है। तृतीय परिच्छेद मे यम, चित्रबन्ध तथा प्रहेलिका के १६ प्रकारो का सविस्तार वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद मे काव्य दोष निरूपित है।

काव्यादर्श मे दण्डी ने काव्य के दोनो प्रकार कथा और आख्यायिका मे विशेष भेद नहीं माना है। उन्होने गुण और अलकारो का विशद विवेचन किया है। अत इनको अलकारवादी कहा जाता है। उन्होने रीति विषय को

भी विवेचित किया, किन्तु इसके लिए उन्होने मार्ग शब्द का प्रयोग किया। इसी आधार पर पी वी काणे ने दण्डी को अशत अलकार सम्प्रदाय का समर्थक तथा अशत रीति सम्प्रदाय का समर्थक कहा है। अलकारवादी होते हुए भी दण्डी रस के माधुर्य से परिचित थे और काव्य मे रस की स्थिति को अनिवार्य मानते थे।

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः।

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।।[1]

परन्तु रस का सचार करने के लिए अलकार को साधन रूप मे आवश्यक मानते थे। इस तत्व को काव्य मे अप्रधान मानते हुए दण्डी ने इसको रसवदादि अलकारो मे परिगणित कर दिया। रस–युक्त आनन्द दायक कथन को उन्होने रसवदलकार माना। रस, रीति, आदि की विशेषता को मान्यता देते हुए भी अलकारो को ही काव्य सर्वस्व स्वीकार किया था। अत दण्डी को अलकारवादी आचार्य कहना ही अधिक उपयुक्त है।

वामन

काव्य स्वरूप के स्वाभाविक और यौक्तिक विकास को दृष्टि मे रखकर दण्डी के अनन्तर 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति' के रचयिता वामन का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। यही वे प्रथम आलकारिक है, जो काव्य की आत्मा का स्पष्ट विवेचन करते है। इन्होने काव्य शरीर के लिए रीति रूप काव्यात्मा का प्रणयन किया। अपने एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति' मे गुण, अलकार, रीति आदि काव्यस्थ उपकरणो का सम्यकत विवेचन किया। उनके अनुसार गुण तथा अलकार से सस्कृत शब्दार्थ काव्य है और काव्य की उपादेयता अलकार के कारण है।

अलकार विवेचन मे वामन ने अपनी स्वतत्र विशिष्टता को प्रतिपादित किया, किन्तु सौन्दर्य विधान की दृष्टि से गुण की अपेक्षा अलकार की

---

१ काव्यादर्श, १–५१

महत्ता न्यून है। यदि 'गुण—बन्ध' अनुक्रम रचना का सौन्दर्य है तो 'अलकार' उक्ति वैचित्र्य या शब्दार्थ रूप साधन का सौन्दर्य है। प्रथम विषयगत शैली का पर्याय है तो दूसरा विधान प्रकार है। काव्य एक चित्र है, उसमे रीति रेखाए है, अलकार—रग है जो रेखा सौन्दर्य को प्रकट करते है तथा गुण यौवन है।

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्य प्रतिष्ठितम्।[1]

यद्यपि वामन ने गुणालकार आदि का विवेचन किया है तथापि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक रूप मे उनको साहित्य शास्त्र मे विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

रूद्रट

अलकार सम्प्रदाय के पोषको मे रूद्रट का स्थान अग्रणी है। वे ही पहले काव्यशास्त्री थे, जिन्होने अलकारो का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण किया। रूद्रट कृत अलकारो के वैज्ञानिक विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे भामह दण्डी, वामन और उद्भट के पश्चात हुए होगे। अभिनव गुप्त तथा मम्मट द्वारा भी रूद्रट का उल्लेख किया गया है। अत उनका समय ६०० ई के लगभग स्वीकार किया जाता रहा।

'काव्यालकार' रूद्रट का एक विस्तृत तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो १६ अध्यायो मे विभक्त है तथा इसमे कुल ७३४ पद्य है जो आर्याछन्द मे लिखे गये है। साहित्यशास्त्र का विस्तृत विवेचन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रतीत होता है। यही कारण है कि इसमे काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, वृत्ति, भाषा, चित्रबन्ध, अर्थालकार, नायक—नायिका भेद, रस, कथा, आख्यायिका, आदि का विशद विवेचन किया गया है। मुख्यत वे अलकार सम्प्रदाय के समर्थक है। उन्होने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष— इन चार

---

१ काव्यालङ्कारसूत्राणि (वामन) १/२/१३ की वृत्ति से,

अलकारो को अलकार विभाजन का आधार बनाया। सक्षिप्त शब्दो मे रूद्रट की साहित्य–शास्त्र को मुख्य देने निम्न प्रकार है–

१ अलकारो का वैज्ञानिक विवेचन।

२ प्रेयस नामक दशम रस की मान्यता।

३ रीति को विशेष महत्व न देना।

४ गुण निरूपण के प्रति उपेक्षा।

५ भाव नामक अलकार की स्वीकृति, जिसमे व्यञ्जना–सिद्धान्त का मूल स्रोत मिश्रित है।

वस्तुत आचार्य रूद्रट अलकार प्रस्थान के परिपोषक ही नही, अपितु परिवर्धक भी है, जिन्होने अलकार विवेचन को आधार बनाकर काव्यशास्त्र की महती सेवा की।

काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह युग बहुत महत्व का है। इस युग मे काव्यो मे अलकारो की प्रधानता प्रतिपादित की गयी और सिद्ध किया गया कि काव्य मे शोभा की उत्पत्ति प्रधानत अलकारो द्वारा होती है। भामह, दण्डी, उद्‌भट और रूद्रट ने अलकारो का विशद विवेचन किया था। दण्डी ने अलकारो के साथ रीति का भी निरूपण किया। वामन ने मुख्यत गुणो को काव्य की शोभा का उत्पादक तत्व प्रतिपादित करके रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। इसी युग मे भरत के रस सूत्र की विशद व्याख्या की गयी। इसके मुख्य व्याख्याकार, भट्‌टलोल्लट शकुक, भट्‌टनायक और अभिनव गुप्त थे। इन व्याख्याकारो मे कुछ की स्थिति आनन्दवर्धन के बाद की है।[1]

३. निर्णयात्मक काल

काव्यशास्त्र के विकास क्रम मे इस तीसरे युग का महत्व समन्वय की दृष्टि से अधिक है। इस काल मे दो महान काव्यशास्त्री हुए–आनन्दवर्धन

---

१ अलकारशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ १

और मम्मटाचार्य। आचार्य आनन्दवर्धन का नाम साहित्य शास्त्र मे अमर है। वे ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक ही नही अपितु उन्नायक भी है। 'राजतरगिणी' के अनुसार वे कश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा की सभा के सुप्रसिद्ध विद्वान थे।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन ।

प्रथां रत्नाकरश्चागात साम्राज्येऽवन्तिवर्मण ।।[1]

एक ओर तो आनन्दवर्धन ने उद्भट का मत उद्धृत किया और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। अतएव आनन्दवर्धन का समय ८५० ई के आसपास सिद्ध होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने आलकारिको को नवीन दिशा का अवबोध ही नही कराया अपितु ध्वनि की स्थापना करके समालोचना के मार्ग का समुन्मीलन किया। अत आनन्दवर्धन को समालोचना मार्ग का केन्द्र बिन्दु कहा जाय तो अत्युक्ति नही होगी। उक्त ग्रन्थ मे ग्रन्थकार की मौलिक उद्भावना, सूक्ष्म विवेचन शक्ति और मननशीलता का परिचय मिलता है।

आनन्दवर्धन ध्वनि के प्रर्वतक माने गये है। ध्वनि को ध्वन्यालोक का सर्वस्व स्वीकार करते हुए भी काव्य के अन्य उपादानो—अलकार, गुण, रीति, आदि का विवेचन न किया हो ऐसा नही है। उन्होने अपनी समालोचना पद्धति मे इनको भी समुचित स्थान प्रदान किया तथा साहित्यशास्त्र को अनेक नवीन तथ्य प्रदान किये। सक्षेप मे उनकी निम्नलिखित देन है—

१ अभिधा, लक्षणा से भिन्न व्यञ्जनात्मक शब्द व्यापार की स्थापना, जैसा कि 'काव्यप्रकाशदर्पण' मे विश्वनाथ ने कहा है।

२ काव्य मे प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता का निरूपण।

३ व्यग्यार्थ के आधार पर काव्य तथा ध्वनि काव्य के भेद—प्रभेद विवेचन।

४ गुण और अलकारो का भेद प्रतिपादन, गुणो का रस से सहज सम्बन्ध तथा सघटना का (रस से) अनिवार्य सम्बन्ध नहीं।

---

१ राजरगिणी, ५ ३४

५ रस–परिपाक विवेचन, रसो के विरोधाविरोध तथा रस–दोषो का विवेचन।

६ ध्वनि को काव्यात्मा रूप मे स्वीकार करना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि रूप काव्यात्मा का सागोपाग प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचनाए की थी तथापि उनका ग्रन्थ ध्वन्यालोक ही उनकी कीर्ति व महत्ता का एकमात्र आधार स्तम्भ है।

राजशेखर

आचार्य आनन्दवर्धन के पश्चात राजशेखर का स्थान अग्रणी है। उनका समय ८८०–६८० ई के मध्य समझा जाता है। राजशेखर ने अनेक काव्यो तथा ग्रन्थो की रचना की थी। उनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया काव्य ग्रन्थ 'काव्यमीमासा' है। इसमे मूल रूप से १८ अधिकरण थे, किन्तु वर्तमान समय मे केवल एक अधिकरण प्राप्त होता है।

काव्यमीमासा मे यद्यपि काव्य के आवश्यक अगो–अलकार गुण, दोष, रस आदि का विवेचन नहीं मिलता तथापि कवि के लिए आवश्यक गुणो और सिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन किया गया है। अत राजशेखर तथा तत्प्रणीत 'काव्यमीमासा' का साहित्यशास्त्र मे विशिष्ट स्थान है।

कुन्तक

आचार्य कुन्तक का आविर्भाव सस्कृत काव्यशास्त्र मे एक महत्वपूर्ण घटना है। उन्होने अलकारवादी आचार्यो द्वारा विवेचित वक्रोक्ति अलकार को अत्यधिक विस्तृत रूप प्रदान करते हुए सुप्रतिष्ठित ध्वनि सिद्धान्त के विरोध मे वक्रोक्ति सम्प्रदाय को जन्म दिया। कुन्तक ने काव्य के प्राय सभी उपकरणो को वक्रक्ति के व्यापक परिवेश मे अन्तर्निहित कर उसे काव्य की आत्मा घोषित किया। उनकी दृष्टि मे प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न चारूतर, विचित्र, एव असाधारण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य कुन्तक को माना जाता है। उनका सम्प्रदाय भी ऐतिहासिक तथा तार्किक दृष्टि से अलकार सम्प्रदाय ही है। वे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण ही मानते है अथवा काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है। उन्होने ध्वनि या व्यग्य की मान्यता का विरोध किया और वक्रोक्ति मे ही इसका समावेश किया। कुन्तक ने स्व–प्रणीत षड्विध वक्रता मे वामन सम्मत गुण समूह को तथा ध्वनिकार सम्मत व्यङ्ग्यत्रयी को सम्मिलित कर लिया है, किन्तु उनकी यह वक्रोक्ति अलकार्य नही अलकार है और अलकार्य रसादि नही अपितु शब्दार्थ है। इस प्रकार भामह प्रणीत अलकार, वामनकृत गुण तथा कुन्तक की वक्रोक्ति सभी अलकार है।

अभिनव गुप्त

मध्यकालीन साहित्य सेवियो मे अभिनवगुप्त का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका समय दशम शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है। उन्होने अपनी अलौकिक प्रतिभा के माध्यम से विशाल साहित्य की रचना की। अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन, अभिनव भारती, काव्यकौतुक, तन्त्रालोक तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमे 'ध्वन्यालोक लोचन' टीका विशेष महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत टीका मे जिन सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है, उनको परवर्ती आचार्यों द्वारा पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ के विवेच्य विषय मूलत ध्वनि तथा रस रहे।

दूसरी टीका भरत के नाट्शास्त्र पर लिखी गयी 'अभिनव भारती है, जिसको प्रकारान्तर से 'नाट्यवेद विवृत्ति' भी कहते है। प्राचीन भारत की नाट्यकला, सगीत, अभिनय, छन्द, अलकार, आदि विषयो की इस टीका मे सूक्ष्मता से व्याख्या की गयी है। महत्वपूर्ण विषयो की प्रतिपादिका होने के कारण यह टीका वस्तुत एक टीका ही नही अपितु नाट्यशास्त्र पर लिखा गया एक मौलिक ग्रन्थ है। आज यह टीका उपलब्ध नही है।

अभिनव गुप्त की रचनाओ मे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ पर उन्होने दो विमर्शिनी लिखी थी। इनमे 'प्रत्याभिज्ञा सूत्रो' पर

'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' लिखी गयी, जिसको लघुवृत्ति भी कहा जाता है। दूसरी 'प्रत्यभिज्ञावृत्ति विमार्शिनी' है तथा इसको वृहती वृत्ति भी कहते है।

महिमभट्ट

आचार्य महिमभट्ट तथा तत्प्रणीत 'व्यक्ति विवेक' को साहित्यशास्त्र मे विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इनका समय एकादश शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'व्यक्ति विवेक' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो तीन विमर्शो मे विभाजित है। प्रथम विमर्श मे ध्वनि लक्षण को उद्धृत करके उसका अनुमान मे अन्तर्भाव किया गया। द्वितीय विमर्श मे 'अनौचित्य' का विवेचन है। तृतीय विमर्श मे ध्वन्यालोक के ४० दृष्टान्तो को अनुमान मे अन्तर्हित माना है। इनका मुख्य उद्देश्य ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव करना है—

अनुमानान्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने· प्रकाशयितुम्।

व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।[१]

उनके मतानुसार दो प्रकार का अर्थ है— 'वाच्य' तथा 'अनुमेय'। अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का है— वस्तु, अलकार, और रस। वस्तु और अलकार वाच्य भी हो सकते हैं, किन्तु रस अनुमेय ही है। इस प्रकार उन्होने ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव कर दिया है। काव्य प्रकाशकार ने दोष विवेचन मे व्यक्ति विवेक का अनुसरण किया है, किन्तु उन्होने, इसका स्पष्टत उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार महिमभट्ट ने 'व्यक्ति विवेक' ग्रन्थ के द्वारा साहित्यकोष की वृद्धि मे महान सहयोग प्रदान किया।

भोजराज

सस्कृत साहित्य—जगत मे महाराज भोज का नाम अति उज्ज्वल नक्षत्र के समान दीप्तिमान है। वे न केवल कवियो और विद्वानो के आश्रयदाता थे अपितु स्वय भी एक महान कवि, प्रगाढ पण्डित, प्रवर

१ भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ ८८

समालोचक तथा विविध विज्ञानो के ज्ञाता थे। उनका समय ग्यारहवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। अलकार शास्त्र मे उनके दो ग्रन्थ है— 'सरस्वती कण्ठाभरण' और 'श्रृगार प्रकाश'—

सरस्वतीकण्ठाभरण—श्रृगारप्रकाशश्च रचनाद्वय ।

इनमे सरस्वतीकण्ठा भरण विशेष लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ। इसमे पाच परिच्छेद है—प्रथम परिच्छेद मे काव्य प्रयोजन, काव्य लक्षण, १६ पद दोष, वाक्य दोष तथा १६ अर्थदोष और २४ शब्द गुणो को निरूपित किया गया है। द्वितीय परिच्छेद मे २४ शब्दालकारो, तृतीय मे २४— अर्थालकारो, चतुर्थ मे ३४ उभयालकारो का तथा पञ्चम मे रसभाव आदि का विवेचन किया गया है। भोजराज का कथन है कि यदि कवि श्रृगारी है तो काव्य जगत रसमय होता है, परन्तु यदि कवि श्रृगारी नही है तो सब कुछ नीरस हो जाता है।

श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जगत जात रसमय जगत्।

स एव चेदश्रृंगारी नीरस सर्वमेव तत्।।[1]

दूसरा ग्रन्थ ' श्रृगार प्रकाश' एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसमे ३६ अध्याय है। रस तथा नाट्य का सविस्तार विवेचन किया गया है। भोजराज की कतिपय देन इस प्रकार है—

१ उपमा, अपह्नुति तथा समासोक्ति जैसे अलकारो को उभयालकार मानना।

२ रीतियो का शब्दालकारो मे अन्तर्भाव तथा ६ रीतियो का निरूपण।

३ मीमासा के ६ प्रमाणो को अर्थालकारो के अन्तर्गत रखना।

४ एकमात्र श्रृगार को रस मानकर अन्य रसो को उसका विकार मानना तथा आठ रसो का निरूपण इत्यादि।

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण, ५—१

क्षेमेन्द्र

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक तथा 'औचित्य विचार चर्चा के प्रणेता आचार्य क्षेमेन्द्र का काव्य जगत मे उत्कृष्ट स्थान है। उनका समय प्राय निश्चित सा ही है, क्योकि उन्होने अपने ग्रन्थ 'औचित्य–विचार–चर्चा तथा 'कविकण्ठाभरण के अन्त मे 'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपते काले किलाय कृत यह उल्लेख किया है। अत क्षेमेन्द्र का समय ६६०–१०६६ के मध्य मानना उचित प्रतीत होता है।

क्षेमेन्द्र ने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी, यथा 'भारत मञ्जरी', 'वृहत्कथा मञ्जरी', सुवृत्त तिलक, औचित्य विचार चर्चा, और कविकण्ठा भरण, जिनमे औचित्य विचार चर्चा उनका प्रसिद्धि प्राप्त ग्रन्थ है। इसमे कुल १६ कारिकाए है। कारिकाओ पर स्वय उन्होने वृत्ति भी लिखी थी तथा उनका उदाहरणो द्वारा स्पष्टीकरण भी किया, जिनमे से कतिपय दृष्टान्त तो क्षेमेन्द्र रचित है तथा कुछ कालिदास, भवभूति और अमरूक आदि कवियो की रचनाओ से लिये गये है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है– 'जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते है। उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है।

उचित प्राहुराचार्याः सदृशं यस्य तत्।

उचितस्य च यो भावः तदौचित्य प्रचक्षते।।[1]

क्षेमेन्द्र के द्वारा प्रणीत विवेचन की कतिपय विशेषताए निम्न प्रकार है–

१ गुण, अलकार और रस का सम्बन्ध काव्य से है।

२ पद, वाक्य और प्रबन्ध– इन तीनो का सम्बन्ध मीमासा दर्शन से है।

---

१ औचित्य विचार चर्चा, कारिका–३

३ क्रिया, कारण, लिग, वचन, विशेषण, उपसर्ग निपात, और काल का सम्बन्ध व्याकरण से है।

४ देश, कुल और वृत्त का सम्बन्ध लोक से है।

'सुवृत्त–तिलक' मे छन्दो के सविस्तार विवेचन के अतिरिक्त 'छन्दौचित्य' के सम्बन्ध मे भी उन्होने विचार व्यक्त किये है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह युग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन करके ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। उन्होने निर्णय किया कि काव्य मे ध्वनि ही सबसे प्रमुख आह्लादक तत्व है। रस, गुण, अलकार, रीति आदि सब उसके ही गुणो का उत्कर्ष करते है। 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार अभिनव गुप्त ने ध्वनिकार के मत मे समर्थन व्यक्त किया। उसके पश्चात मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' की रचना करके 'ध्वनि–विरोधियो' की युक्तियो का प्रबल शब्दो मे खण्डन किया और ध्वनि की निर्णयात्मक रूप से स्थापना की। मम्मट के पश्चात किसी प्रमुख आलकारिक ने ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने का साहस नही किया तथा इसको काव्य की आत्मा के रूप मे अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। आनन्दवर्धन के पश्चात कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ की रचना करके वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रचलन किया था, परन्तु इसका प्रचलन अधिक नही हुआ। यद्यपि ध्वनिकार तथा औचित्य प्रवर्तक आचार्यो ने साहित्यशास्त्र को समन्वित मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया तथापि उनका दृष्टिकोण भी काव्य के विशेष तत्व की ओर ही अधिक रहा, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो समन्वय मार्ग का उद्घाटन किसी विशिष्ट प्रतिभा की प्रतीक्षा कर रहा हो।

४. व्याख्या काल

काव्यशास्त्र के विकास का चतुर्थ काल व्याख्यात्मक काल कहा जा सकता है। यह समय मम्मट से लेकर १८वी शताब्दी मे विश्वेश्वर पाण्डेय तक विस्तृत है। इस युग मे अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होने काव्य के

सभी तत्वो की विवेचना करते हुए सर्वांगीण ग्रन्थ भी लिखे थे। इन आचार्यो मे हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जयदेव, जगन्नाथ आदि प्रसिद्ध है।

मम्मट

एकादश शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारतीय साहित्य गगन मे आचार्य मम्मट के रूप मे जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ, किन्तु मम्मट का समय निर्धारित नही किया जा सका। केवल अन्त साक्ष्य और वाह्य प्रमाणो के आधार पर उनका समय निर्धारण किया गया है। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त (जो कि १०१५ तक विद्यमान थे) तथा 'नवसाहसाक चरित' (रचनाकाल १०५५) को उद्‌घृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि काव्य–प्रकाश का रचनाकाल १०५० ई से पूर्व नही है। माणिक्य चन्द्र ने 'काव्य–प्रकाश–सकेत' नामक टीका लिखी थी। अत स्पष्ट है कि द्वादश शताब्दी के पूर्व ही मम्मट–प्रणीत काव्य प्रकाश की ख्याति का प्रसार हो चुका था। अत मम्मट का समय ११वी शताब्दी का मध्य भाग ही माना जाता है।

'काव्य प्रकाश' भारतीय अलकार शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। साहित्य शास्त्र मे शताब्दियो से प्रवाहित होने वाला, विविध धाराओ से अनुप्राणित होने वाला यह पवित्र गगा–प्रवाह है। वेदान्त दर्शन मे जो 'शारीरक भाष्य' का महत्व है, व्याकरण शास्त्र मे महाभाष्य का जो अनुपम स्थान है, वही स्थान साहित्य शास्त्र मे मम्मट के काव्य प्रकाश का है। इसीलिए सुधासागरकार भीमसेन दीक्षित ने उन्हे 'वाग्देवतावतार' इस उपाधि से अलकृत किया। काव्य प्रकाश के तीन अश है– कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति की रचना इन्होने स्वय की है जबकि उदाहरणो को विभिन्न ग्रन्थो से उद्‌धृत किया है।

यद्यपि रचनाकाल से ही इस ग्रन्थ को समझने और समझाने का प्रयास किया जाता रहा तथापि यह दुर्गम ही रहा। जैसा कि किसी प्राचीन आचार्य का कथन भी है–

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीका तथोप्येष तथैव दुर्गमः।[1]

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाए लिखी गयी जैसे—माणिक्य चन्द्र कृत 'सकेत' टीका, जयन्त रचित 'काव्य प्रकाश दीपिका', सोमेश्वर प्रणीत—'काव्यादर्श' तथा विश्वनाथ रचित 'काव्य प्रकाश दर्पण'।

मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा। उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुगमन न करते हुए स्वय एक नवीन मार्ग का सृजन किया तथा उन्होने साहित्य जगत के विविध वाद—विवादो को सदा के लिए समाप्त कर दिया और विविध समीक्षा शैलियो का सुन्दर समन्वय किया। वस्तुत मम्मट वाग्देवतावतार थे।

रूय्यक

अलकार सम्प्रदाय के आचार्यो मे रूय्यक का अद्वितीय स्थान है। उनका समय १७वी शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। उनके द्वारा प्रणीत 'अलकार सर्वस्व' साहित्यशास्त्र की महती प्रतिष्ठा प्राप्त कृति है। इस ग्रन्थ मे १८ सूत्र है। ग्रन्थ के आरम्भ मे उन्होने एक आमुख दिया है, जिसमे पूर्ववर्ती आचार्यो के मतो की विवेचना करते हुए काव्यात्मा प्रसग मे भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट, कुन्तक और आनन्दवर्धन आदि काव्यज्ञो के मतो का साराश दिया है। आमुख के अनन्तर रूय्यक ने दस सूत्रो मे पुनरूक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, यमक और चित्र आदि शब्दालकारो का विवेचन किया तथा इसके साथ ही अर्थालकारो को भी विवेचित किया। इसके पश्चात तीन सूत्रो मे प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए, रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भाव सन्धि, भाव शबलता आदि का विवेचन है।

उत्तरवर्ती आलकारिक रूय्यक के 'अलकार सर्वस्व' से अधिक प्रभावित है। विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने इस ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर अपने ग्रन्थो का प्रणयन किया अत रूय्यक का साहित्य शास्त्र मे विशिष्ट स्थान है।

---

१ काव्य प्रकाश, पृ २८

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ साहित्य शास्त्रीय गगन के देदीप्यमान नक्षत्र है। उनका समय निश्चित ही है, क्योकि उन्होने गीतगोविन्द' तथा 'नैषध के उद्धरण दिये है। इनकी रचनाओ मे खिल्जी वश के सुल्तान अलाउद्दीन का उल्लेख मिलता है। अत उनकी पूर्व सीमा १३वी शताब्दी का अन्तिम भाग है। विश्वनाथ ने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी, जिनमे 'राघव–विलास' महाकाव्य का भी उल्लेख किया गया है। अलकारशास्त्र पर उनकी दो रचनाए उपलब्ध होती है– प्रथम–काव्य प्रकाश की टीका 'काव्य प्रकाश दर्पण' और दूसरी मौलिक रचना 'साहित्य दर्पण' है, जो साहित्यशास्त्र पर लिखा गया लोकप्रिय ग्रन्थ है। उन्होने अपने ग्रन्थ को तीन भागो मे विभक्त किया है– कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इस ग्रन्थ मे दस परिच्छेद है। इसमे जहॉ एक ओर श्रृव्य काव्यो का विवेचन है, वही दूसरी ओर दृश्य काव्यो की विविध विशेषताओ का विवरण दिया गया है।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि प्राचीन समालोचको द्वारा विश्वनाथ को द्वितीय श्रेणी का शास्त्रकार मान लेने पर भी अपनी काव्यगत सरलता तथा व्यापकता के कारण इनका 'साहित्य दर्पण' अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण है।

कविराज विश्वनाथ के पश्चात तथा जगन्नाथ से पूर्व अलकारशास्त्र पर अनेक मौलिक टीका ग्रन्थ लिखे गये, जिनमे भानुदत्त की 'रस मञ्जरी', 'रस तरगिणी' केशव मिश्र का 'अलकार शेखर', अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'अलकार रहस्य' नामक विशाल ग्रन्थ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

व्याकरण न्याय वैशेषिक, पूर्व मीमासा तथा उत्तर मीमासा आदि विविध विषयो के ज्ञाता पण्डितराज जगन्नाथ का सम्प्रदाय–विशेष मे ही नही अपितु साहित्यशास्त्र मे महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि

उन्हे पण्डित राज की उपाधि शाहजहॉ ने प्रदान की थी। पण्डितराज ने अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमे 'रस गगाधर , 'चित्र मीमासा', अलकार शास्त्र पर है। 'मनोरमा कुच मर्दिनी' व्याकरण पर तथा 'सुधालहरी', जगदाभरण, आसफ विलास, प्राणाभरण, भामिनी विलास तथा 'यमुना वर्णन चम्पू' आदि काव्य ग्रन्थ है।

उक्त रचनाओ मे 'रस गगाधर' विशिष्ट शैली वाला ग्रन्थ है। पण्डितराज ने किसी वस्तु का प्रथमत लक्षण दिया और फिर उसका स्व–निर्मित दृष्टान्त देते हुए विशद व्याख्या की। तदनन्तर अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के दृष्टिकोण का समीक्षात्मक परिचय दिया। मम्मट आदि आचार्यो ने काव्य के तीन भेद किये, किन्तु प जगन्नाथ का अभिमत है कि काव्य के चार भेद करने चाहिए–

'तच्चोत्तमोत्तमोमध्यमाध्यम भेदाच्चतुर्धा।'[१]

जगन्नाथ स्वय एक प्रतिभाशाली कवि है। उनकी प्रतिभा न केवल स्वरचित रचनाओ मे परिलक्षित होती है अपितु 'रसगगाधर' मे प्रस्तुत दृष्टान्तो मे भी परिलक्षित होती है। उनका कथन है कि मै इस ग्रन्थ मे दूसरो की कविता को नही अपितु स्वरचित काव्यो के श्लोको को उदाहरण रूप मे प्रस्तुत कर रहा हूँ। कस्तूरी मृग अपनी सुगन्ध का सेवन करता है, पुष्पो की नही।

निर्माय नूतनोदाहरणानुरूपं काव्यं मयाऽत्र निहित न परस्य चिञ्चित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिका जननशक्ति भृतामृगेण।।[२]

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से 'रस गगाधर' को दो आननो मे विभक्त किया गया है। इसमे काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य भेद, रस स्वरूप, गुण स्वरूप, तथा सख्या आदि का उल्लेख करते हुए प्राचीन आचार्यो द्वारा

---

१ रस गगाधर, पृ ३६

२ रस गगाधर, पृ १०६

विवेचित शब्द तथा अर्थ गुणो के स्वरूप को बताकर उन्होने उनका अन्तर्भाव माधुर्य, ओज, और प्रसाद–इन तीनो गुणो मे किया है। इसके अनन्तर विभिन्न भावो का निरूपण करके रसाभास, भाव शान्ति भाव सन्धि और भाव शबलता का उल्लेख है। सलक्ष्यक्रम ध्वनि का विवेचन करते हुए शक्ति नियामक तत्वो–सयोग, विप्रयोग, आदि का वर्णन है। तत्पश्चात शब्द शक्तिमूलक तथा अर्थशक्ति मूलक ध्वनियो का विस्तृत वर्णन है। अन्त मे लक्षण मूलक ध्वनि को निरूपित करके अभिधा और लक्षणा शक्तियो पर प्रकाश डाला गया है।

पण्डित राज जगन्नाथ के पश्चात भी समय–समय पर साहित्य जगत मे अनेक आचार्य हुए, जिनमे आशाधर भट्ट, विश्वेश्वर, नागेश भट्ट, नरसिह आदि विशेषत उद्धरणीय है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि भरत से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक सस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा मे तीन देहवादी काव्यमत–अलकार, रीति, वक्रोक्ति, तथा दो काव्यात्मावादी मत–रस, ध्वनि प्रस्तुत किये गये। जिनके अन्तर्गत क्रमश उक्ति चमत्कार, रचना–सौष्ठव, रस तथा रमणीय व्यग्यार्थ को प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया, किन्तु काव्य शास्त्र के विकास क्रम मे रस और ध्वनि को ही पूर्ण मान्यता प्राप्त हो सकी। काव्य स्रोत मुनि भरत से प्रारम्भ होकर पडित राज जगन्नाथ तक निरन्तर गति से प्रवाहित होता रहा। यह कथन सर्वथा न्याय सगत है।

(ग) काव्यशास्त्र का स्वरूप

भारतीय चिन्तन परम्परा मे काव्यशास्त्र काव्य सर्जना से पृथक् एक स्वतत्र शास्त्र के रूप मे वर्णित किया गया है। सस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा मे साहित्य का आलोचन अथवा काव्य–मीमासा का सैद्धान्तिक स्वरूप काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र अथवा समीक्षाशास्त्र कहलाता है।

वस्तुत काव्य–सौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यशास्त्र' है। अपने व्यापक अर्थ मे काव्य का सम्बन्ध सृष्टि के आदि काल से ही रहा है। सस्कृत साहित्यशास्त्र मे 'काव्य' शब्द 'साहित्य' का ही पर्यायवाची है, जिसमे 'गद्य–पद्य' 'श्रव्य–दृश्य' सभी प्रकार के वाङ्मय का अन्तर्भाव हो जाता है। 'कु' शब्दे धातु से निष्पन्न होने के कारण काव्य की परिधि मे वाणी मात्र परिगृहीत हो जाती है, किन्तु व्यवहार मे इस शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध कविता के अर्थ मे ही होता है। यह काव्य मनुष्य की रागात्मिका अभिव्यक्ति का सूचक है और इसीलिए प्राणिमात्र का तोषकारक है। ससार की सभी भाषाओ मे अनादिकाल से लोकगीतो के रूप मे काव्य प्राप्त हो जाता है। कवि–कर्म की महत्ता आनन्दवर्धन के शब्दो मे स्पष्ट है।

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापति ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते।।[१]

'काव्य के साथ 'शास्त्र' पद को सयुक्त करने का आचार्यो का क्या प्रयोजन है, यह विचारणीय है। सामान्य रूप से 'शास्त्र' पद का अर्थ है– 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् शासन करने वाला, उपदेश देने वाला होने से यह शास्त्र होता है। उक्त अर्थ उपदेश–प्रदायक होने से वेदादि शास्त्रो के लिए तो औचित्यपूर्ण हो सकता है, किन्तु काव्य प्रसग मे यह उचित नही।[२] शास्त्र' शब्द की एक और भी व्युत्पत्ति हो सकती है– 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् किसी गूढ तत्व का शसन करने वाला, प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ शास्त्र कहलाता है। काव्य के साथ शास्त्र पद को सयुक्त करने का अभिप्राय यह ही है कि काव्य शास्त्र मे काव्य के गूढ तत्वो का प्रतिपादन किया गया है। अलकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि शब्दो मे भी 'शास्त्र' पद का यही अभिप्राय द्योतित होता है।

---

१ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३१२

२ अलकार शास्त्र का इतिहास, पृ २७

भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम् पुस्तक 'ऋग्वेद' ने ईश्वर को कवि की सज्ञा देते हुए उसे 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' कहा है अर्थात् कवि क्रान्तदर्शी, मननशील व्यापक दृष्टि सम्पन्न और स्वत जात होता है। काव्य का यही महत्व प्रतिपादित करते हुए विष्णु पुराण ने उसे विष्णु का स्वरूप बताते हुए कहा है– जो कोई काव्य है और समस्त गीत है वे सब शब्द के विग्रह को धारण करने वाला महात्मा विष्णु का शरीर है।[1]

कवि स्वयम्भू है। वह अपने विचारो और अनुभूतियो को स्वेच्छा से अभिव्यक्ति दे सकता है फिर भी उसकी कुछ मर्यादाये है। जीवन को लोक–रीति के अनुसार आदर्श, सुन्दर एव सुखद बनाने के उद्देश्य से नियम एव विधि–निषेधो की स्थापना की गई है जिसका विवेचन नीतिशास्त्र, समाजशास्त्रादि के अन्तर्गत किया गया है। उपर्युक्त उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही कवि काव्य का आश्रय लेता है, अत कवि के लिए भी कुछ मानदण्ड निर्धारित किये गये है। इन्ही मानदण्डो के आधार पर आलोचना एव पर्यवेक्षण होता है और काव्य की श्रेष्ठता मानी जाती है। यही सिद्धान्त–निरूपण काव्यशास्त्र का विषय है। काव्य–शास्त्र या साहित्यशास्त्र के लिए सभी प्राचीन आचार्यो ने 'काव्यालकार' नाम का प्रयोग किया है और तदनुरूप ही अपने ग्रन्थ का नामकरण भी किया है। भामह, वामन, रूद्रट, और उद्भट ने क्रमश अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालकार', 'काव्यालकार सूत्राणि, 'काव्यालकार' और 'काव्यालकार सार सग्रह' रखा है।

सस्कृत मे साहित्य एव काव्य समानार्थक होने के कारण सस्कृत के लक्षण–ग्रन्थो मे अलकार शास्त्र, साहित्य शास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शब्द प्रायश एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए है। भारतीय काव्यशास्त्र को 'साहित्यविद्या' या 'क्रियाकल्प' के नाम से भी अभिहित किया गया है। काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप अलकार शब्द मे पूर्णत समाहित न हो सकने के कारण दूसरा नाम 'साहित्यशास्त्र' प्राप्त करता है। यह नाम

---

१ **काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।**
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः ।। विष्णुपुराण–२२/८

भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम् पुस्तक 'ऋग्वेद' ने ईश्वर को कवि की सज्ञा देते हुए उसे 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' कहा है अर्थात् कवि क्रान्तदर्शी, मननशील व्यापक दृष्टि सम्पन्न और स्वत जात होता है। काव्य का यही महत्व प्रतिपादित करते हुए विष्णु पुराण ने उसे विष्णु का स्वरूप बताते हुए कहा है– जो कोई काव्य है और समस्त गीत है वे सब शब्द के विग्रह को धारण करने वाला महात्मा विष्णु का शरीर है।[१]

कवि स्वयम्भू है। वह अपने विचारो और अनुभूतियो को स्वेच्छा से अभिव्यक्ति दे सकता है फिर भी उसकी कुछ मर्यादाये है। जीवन को लोक–रीति के अनुसार आदर्श, सुन्दर एव सुखद बनाने के उद्देश्य से नियम एव विधि–निषेधो की स्थापना की गई है जिसका विवेचन नीतिशास्त्र, समाजशास्त्रादि के अन्तर्गत किया गया है। उपर्युक्त उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही कवि काव्य का आश्रय लेता है, अत कवि के लिए भी कुछ मानदण्ड निर्धारित किये गये है। इन्ही मानदण्डो के आधार पर आलोचना एव पर्यवेक्षण होता है और काव्य की श्रेष्ठता मानी जाती है। यही सिद्धान्त–निरूपण काव्यशास्त्र का विषय है। काव्य–शास्त्र या साहित्यशास्त्र के लिए सभी प्राचीन आचार्यो ने 'काव्यालकार' नाम का प्रयोग किया है और तदनुरूप ही अपने ग्रन्थ का नामकरण भी किया है। भामह, वामन रूद्रट, और उद्भट ने क्रमश अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालकार', 'काव्यालकार सूत्राणि, 'काव्यालकार' और 'काव्यालकार सार सग्रह' रखा है।

सस्कृत मे साहित्य एव काव्य समानार्थक होने के कारण सस्कृत के लक्षण–ग्रन्थो मे अलकार शास्त्र, साहित्य शास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शब्द प्रायश एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए है। भारतीय काव्यशास्त्र को 'साहित्यविद्या' या 'क्रियाकल्प के नाम से भी अभिहित किया गया है। काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप अलकार शब्द मे पूर्णत समाहित न हो सकने के कारण दूसरा नाम 'साहित्यशास्त्र' प्राप्त करता है। यह नाम

---

१ **काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।**
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मन ।। विष्णुपुराण–२२/८

भी उपयुक्त सिद्ध न हो सकता क्योकि साहित्य एक शास्त्र विशेष न होकर ज्ञानराशि के सञ्चित कोश का नाम है अथवा अनेक शास्त्रो एव अनेक विचारो का समन्वित रूप है। काव्य–सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे केवल अलकारो का ही विवेचन नही है, अलकारो के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, रस, काव्य–लक्षण, काव्य–प्रयोजन आदि सभी विषय भी समाहित थे इसलिए काव्य विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थो को 'काव्यशास्त्र' नाम प्रदान किया जो अन्य किसी नाम की अपेक्षा अधिक समीचीन एव वैज्ञानिक है।

सस्कृत साहित्य के काव्य या कविता अग की विधि व्यवस्थाओ का विवेचन, समीक्षण करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उसमे हमे काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओ एव विचार विभेदो का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है। वस्तुत काव्य की विविध पद्धतियो की समालोचना, समीक्षा और उसके मूल–स्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।

काव्यशास्त्र के अन्य सभी नामो की अपेक्षा 'साहित्यशास्त्र' नाम अधिक प्रचलित हुआ और इसका श्रेय कदाचित् चौदहवी शताब्दी के विश्वनाथ को है। इन्होने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा। विश्वनाथ से पूर्व ११वी शताब्दी मे अलकार सर्वस्वकार रूय्यक ने– 'साहित्यमीमासा' नामक दूसरे ग्रन्थ मे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया था, परन्तु उनका यह ग्रन्थ अधिक प्रचलित नहीं हुआ इसीलिए काव्यशास्त्र के लिए 'साहित्य' शब्द के प्रचार का श्रेय विश्वनाथ को ही जाता है। वस्तुत 'साहित्य' शब्द के आदि प्रवर्तक विश्वनाथ नहीं है। इसका आदि मूल तो काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह के 'काव्यालकार' मे ही पाया जाता है। भामह ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर काव्य का लक्षण किया है। अर्थात् शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम ही काव्य है। शब्दार्थ के साहित्य का अभिप्राय प्रकट करते हुए दसवी शताब्दी के आचार्य कुन्तक

ने लिखा है कि काव्य मे सौन्दर्याधान के लिए शब्द और अर्थ दोनो की एक सी मनोहारिणी स्थिति का नाम 'साहित्य' है।

भामह के काव्य का अभिप्राय इसी प्रकार के साहित्य से युक्त शब्द और अर्थ से है। पुन आगे कुन्तक ने अपने ग्रन्थ मे शब्द और अर्थ के इस साहित्य को काव्य लक्षण मे समाविष्ट किया है।[1] अर्थात् सह्रदयो को आह्लादित करने वाले सुन्दर कविर्व्यापार से युक्त रचना मे समुचित रीति से स्थित साहित्य युक्त शब्दार्थ का नाम ही काव्य है। 'श्रीकण्ठचरित के कर्ता कवि मखक ने 'बिना न साहित्य विदाऽपरत्र गुण कथचित् प्रथते कवीना' कहकर अभिधावृत्तिमातृका के लेखक मुकुलभट्ट ने—

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्।

यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।।

कहकर तथा अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने 'श्रुत्वाऽभिनवगुप्ताख्यात् साहित्य बोधवारिधे' कहकर काव्यशास्त्र के लिए 'साहित्य' और उसके ज्ञाता के लिए 'साहित्यविद्' शब्द का प्रयोग किया है। नवी शताब्दी के आचार्य राजशेखर के समय से 'साहित्यविद्या' के रूप मे प्रयुक्त सज्ञा धीरे—धीरे ग्राह्य होती गयी और कई लेखको ने इसका पारिभाषित अर्थ मे प्रयोग किया। कुन्तक, भोज, महिमभट्ट, रूय्यक और विश्वनाथ के विवेचन और ग्रन्थ इसके प्रमाण है।

शब्दार्थ का साहित्य काव्य है अत उसकी मीमासा करने वाले शास्त्र को लक्षण या लक्ष्य (काव्य) दोनो मे से किसी एक आधार पर नाम दिया जा सकता है। 'साहित्यशास्त्र' (लक्षण के आधार पर) या 'काव्यशास्त्र' (लक्ष्य के आधार पर) दोनो ही समान रूप से ग्राह्य है पर हिन्दी मे 'काव्यशास्त्र' सज्ञा का प्रयोग करने के लिए एक—दो तर्क है। प्रथम यह कि 'साहित्य' शब्द का भामह के समय से परिभाषित अर्थ सभी को स्वीकार्य न

---

१ **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविर्त्यापार शालिनि।**
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। वक्रोक्ति जीवित १/७

होगा। द्वितीय यह कि साहित्य शब्द अग्रेजी के Lıterature शब्द का अपने मे अनुवाद भी प्रतिबिम्बित किये हुए है। सस्कृत मे जब इसका प्रयोग होता है तब इसका व्यापक अर्थ प्रतिभाषित नही होता, किन्तु हिन्दी मे 'Lıterature की विशिष्ट अभिव्यक्ति से यह बच नही पाता। 'काव्य' शब्द इस प्रकार श्लिष्ट नही है और वह सस्कृत के व्यापक अर्थ को भी हिन्दी मे छोड चुका है, अत प्रयोग की सीमा स्पष्टत निर्धारित हो गयी है। फलत 'साहित्य' शब्द की श्लिष्ट अभिव्यक्ति से बचने के लिए और प्रयोग को स्पष्ट सकेत देने के लिए 'काव्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग करना अनुचित न होगा। भामह के 'काव्यालकार' का 'अलकार' शब्द तो सस्कृत मे ही दो-तीन शताब्दियो के बाद अलकारशास्त्रीय ग्रन्थो के नाम से लुप्त हो गया था पर 'काव्य' शब्द सुदीर्घ शताब्दियो तक चलता रहा है। दशम शतक के प्रारम्भ मे राजशेखर की 'काव्यमीमासा', एकादश शतक मे आचार्य मम्मट का 'काव्यप्रकाश', द्वादश शतक मे हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' और चतुर्दश शतक मे श्रीवत्सलाक्षन की 'काव्यपरीक्षा' आदि ग्रन्थ इस बात के प्रमाण है कि लक्ष्य (काव्य) के अनुसार इस शास्त्र का नाम रखना उचित और तर्क सगत होता। अग्रेजी मे इसके लिए 'Poetics' शब्द का प्रयोग प्रचलित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य-सौन्दर्य की परख करने वाले इस शास्त्र के लिए काव्यालकार, काव्यशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, साहित्य विद्या, आदि अनेक नामो का प्रयोग किया जाता रहा है, परन्तु इन सब नामो से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक और नाम भी प्रयुक्त होता रहा है और वह है- 'क्रियाकल्प'। यह नाम इन सभी नामो से कदाचित् अधिक प्राचीन है। इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र मे गिनाई गयी ६४ कलाओ मे आता है। क्रियाकल्प काव्यक्रियाकल्प का सक्षिप्त रूप प्रतीत होता है। केवल कामशास्त्र मे ही नही अपितु 'ललित विस्तर' नाम बौद्ध ग्रन्थ मे भी 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमगलार्क ने उसका अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधि

काव्यालकार इत्यर्थ इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओ के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ 'क्रियाकल्प शब्द काव्यालकार अथवा अलकारशास्त्र के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।

भरतमुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक दो सहस्र वर्षो की कालावधि मे सस्कृति काव्य-शास्त्र ने विविध प्रकार से अपना स्वरूप विकास प्रदर्शित किया है। आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' मे काव्यलक्षण, काव्यालकार और गुण-दोषो का भी स्पष्ट निर्देश किया है। उन्होने काव्य-लक्षणो का स्वरूप निर्धारित करने मे निरूक्त और मीमासा ग्रन्थो से पर्याप्त सहायता ली है। भरतमुनि से लेकर आचार्य भामह और दण्डी तक जिस काव्य चर्चा का विकास हुआ वह क्रियाकल्प की अवस्था न होकर काव्य लक्षण की अवस्था है।
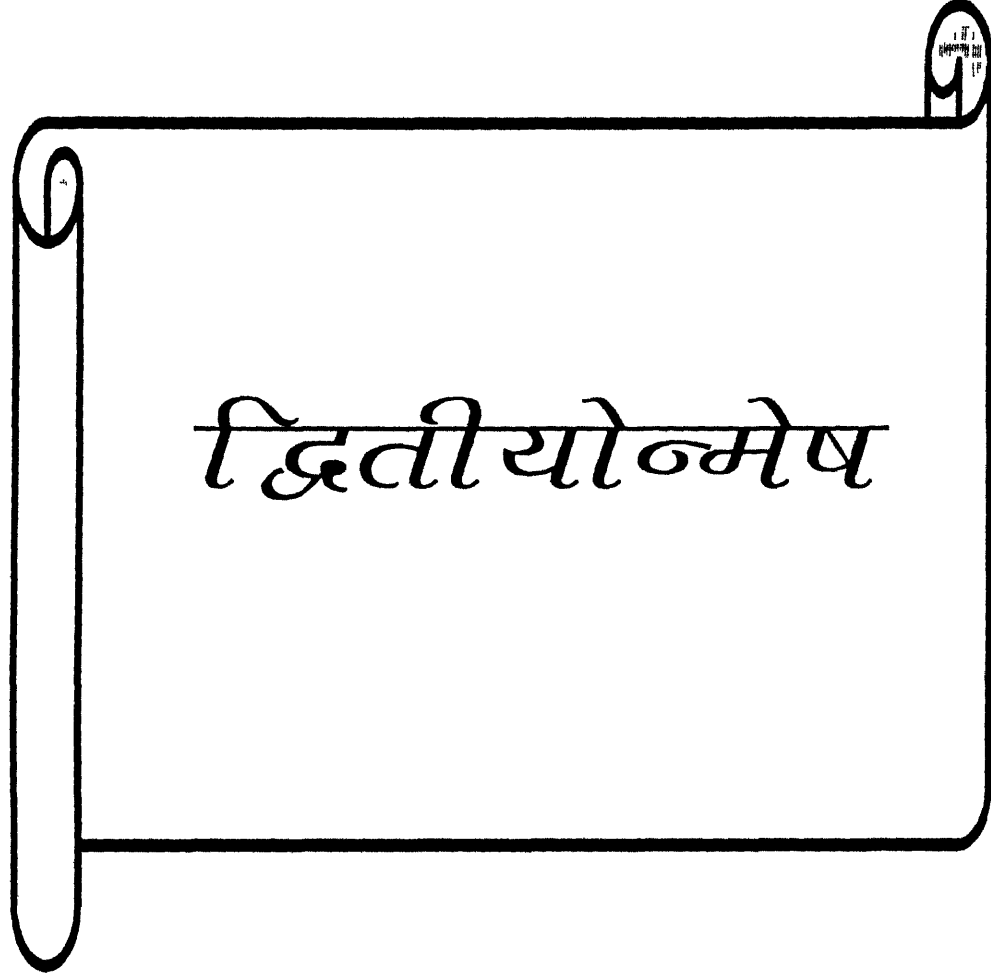
द्वितीयोन्मेष

प्रमुख काव्यशास्त्रियों का उल्लेख
(कालक्रम—निर्धारण)

भारतीय काव्यशास्त्र की निरन्तर प्रवाहमान सुदीर्घ परम्परा वस्तुत सस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिन्तन की ही परम्परा है। सस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विवेचन का आधार मुख्यत कवि काव्य और प्रमाता का त्रिकोण रहा है। भारतीय काव्यशास्त्रियो ने इन्ही तीन तत्त्वो की परिधि मे काव्य के व्यापक क्षेत्र का विवेचन किया है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "काव्य हेतु, काव्य—स्वरूप एव काव्य प्रयोजन के अन्तर्गत काव्य—सृजन की प्रेरणा एव प्रक्रिया से लेकर उसके आस्वादन—उपभोग तक से सम्बद्ध प्राय सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया गया है। रस, ध्वनि, अलकार, रीति एव वक्रोक्ति के सन्दर्भ मे काव्य के प्राण तत्त्व की खोज एव काव्यास्वाद का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। दृश्य काव्य के विवेचन मे सस्कृत काव्यशास्त्री ने रगमञ्च की सज्जा से लेकर प्रेक्षक के मनोविज्ञान तक का सूक्ष्म अध्ययन किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र के आरम्भ का प्रश्न अब विवादपूर्ण नही रहा। यद्यपि कई विद्वान् विद्या तथा ज्ञान के अन्य स्रोतो की भॉति ही काव्यशास्त्र का मूल भी वैदिक वाङ्मय मे ही ढूँढते है तथापि यह प्राय सर्वमान्य हो चुका है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ कम से कम वैदिक वाङ्मय से नही माना जा सकता। यह सच है कि प्राचीन काव्यशास्त्र मे उपमा आदि काव्यशास्त्रीय शब्दो का कही—कही प्रयोग हुआ है, किन्तु यह भी उतना ही सच है कि वैसे प्रयोग विशुद्ध रूप से व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग ही है। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आदि ग्रन्थ वस्तुत भरतमुनि द्वारा विरचित नाट्यशास्त्र ही है।

यद्यपि स्वय भरतमुनि ने यह स्वीकार किया है कि उनसे पूर्व भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन का छिटपुट विवेचन उपलब्ध है तथापि एक सुव्यवस्थित

ग्रन्थ के रूप मे भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र ही भारतीय काव्यशास्त्र की प्रथम मौलिक–रचना माना जाता है। भरत के पश्चात् लगभग पाच शताब्दियो तक कोई महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ सामने नही आया। ईसा की छठी शताब्दी मे पुन अलकार की महत्ता प्रतिष्ठित हुई और छठी से नवी शताब्दी तक अलकार की एक छत्र सत्ता बनी रही। इस युग के अलकारवादी काव्यशास्त्रियो मे भामह, दण्डी, उद्भट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी काव्यशास्त्रियो ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन मे अलकार की स्वतत्र सत्ता स्थापित की और भारत के रसवाद को केवल नाट्य मे ही स्वीकृति प्रदान की गयी। नि सन्देह इन अलकारवादी आचार्यो की मूल दृष्टि देहवादी थी और इन्होने काव्य की आत्मा 'रस' को उसके वाह्य अलकारो मे समाविष्ट कर दिया। नवी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो मे आचार्य वामन ने 'रीति' को 'काव्य' की 'आत्मा' घोषित किया। यद्यपि वामन से पूर्व भी रीति का विवेचन हुआ है किन्तु उसे काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान देने का श्रेय वामन को ही है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख किया जा सकता है कि रीति को विशिष्ट अर्थ प्रदान करते हुए रीति सिद्धान्त की विधिवत् स्थापना का श्रेय वामन को ही प्राप्त है।

सस्कृत काव्यशास्त्र की एक गौरवपूर्ण उपाधि ध्वनि–सिद्धान्त की स्थापना है। नवी शताब्दी के मध्य मे आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। इसी युग मे भोजराज, महिमभट्ट तथा क्षेमेन्द्र आदि काव्यशास्त्रियो ने भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त की विधिवत् स्थापना की। कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया और काव्य के सभी तत्त्वो का समाहार वक्रोक्ति मे कर दिया। कुन्तक के पश्चात वक्रोक्ति की महत्ता घट गयी और उसे मात्र एक अलकार का ही स्थान प्राप्त हुआ। कुन्तक ने वक्रोक्ति को जो सर्वोपरि स्थान दिया था, परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने उसका खण्डन किया और परिणामत वक्रोक्ति की गणना एक अलकार के रूप मे होने लगी। इसके

पश्चात् रुय्यक, जयदेव मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ तक के काव्याचार्यो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के उपर्युक्त विद्वानो के विचारो के क्रमबद्ध अध्ययन के लिए सर्वप्रथम हम प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के प्रमुख काव्यशास्त्रियो के कालक्रम का निर्धारण एव उनके द्वारा प्रमुख प्रतिपाद्य तथा काव्य मार्ग के सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण का विवेचन करते है।

१. भरतमुनि

साहित्यशास्त्र मे जितनी कृतियॉ उपलब्ध है, उनमे भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनतम् है। नाम्ना यद्यपि यह नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयो का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह विविध कलाओ का आकर ग्रन्थ है। इतिहास मे इस ग्रन्थ को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि इसकी महिमा के प्रकाश मे सजातीय ग्रन्थो की खाद्योतमाला ऐसी निष्प्रभ हो गयी कि काल की गति उन्हे सर्वथा विस्मृति के गर्त मे गिरा गयी।

पिछले एक शतक से नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि के व्यक्तित्त्व के विषय की तरह नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के विषय मे भी विद्वानो ने श्रमपूर्वक अन्वेषण किया और उनका यह प्रयास अनेक निष्कर्षो निकालने मे भी फलप्रद रहा। इस क्रम मे प्रथम उद्योग नाट्यशास्त्र के १—१४ अध्याय के सम्पादक पी रेग्नो तथा जे ग्रासे ने किया तथा नाट्य शास्त्र का रचनाकाल इसके काव्यशास्त्रीय तथा छन्दशास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए ईस्वी सन् से कम से कम एक शती पूर्व निर्धारित किया। हर प्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वो के विश्लेषणो के उपरान्त उसका निर्माण काल पी रेग्नो की तरह ईसा पूर्व दो शती निर्धारित किया। कर्नल श्री जैकोबी ने नाट्यशास्त्र की प्रकृति भाषा के अशो का विश्लेषण करते हुए नाट्यशास्त्र का रचना काल ईसा की तीसरी शती निर्धारित कर

डाला। प्रो सिल्वॉ लेवी ने नाट्यशास्त्र मे प्रयुक्त शब्दो के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित करने का उपयोग किया। इनके मत मे स्वामी सुगृहीत नामा आदि शब्दो के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित होता है, क्योकि इन शब्दो का प्रयोग नहपान तथा चेष्टन क्षत्रपो के शिलालेखो मे आया है। अतएव शिलालेखो मे प्रयुक्त उपर्युक्त के साम्य तथा शक आदि जातियो के उल्लेख के कारण नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी ईस्वी अर्थात् इन क्षत्रपो के आसपास का समय है। 'नेपाल शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्र गुप्त की प्रशस्ति मे तथा 'महाराष्ट्र' शब्द का प्रथम उल्लेख महावश (ईसा पूर्व पाचवी शती) तथा एहोल अभिलेख (ई ६३४) मे मिलता है। काणे ने इसी आधार का निषेध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ऐसा क्यो न माना जाय कि इन देशो का प्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र मे ही हुआ है, क्योकि प्रथम उल्लेख होने से यह निश्चय नही हो सकता कि इन देशो के इसके पूर्व ये नाम ही नही थे तथा इन शिलालेखो मे इन देशो के पश्चाद्भावी काल मे उल्लेख होने से नाट्यशास्त्र का रचनाकाल आगे नही बढाया जा सकता है। सेतुबन्ध (प्रवरसेन प्रणीत) मे महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप मे प्रयोग हुआ है उससे महाराष्ट्री प्रयोग करने वाले जनपद का इन शिलालेखो के रचनाकाल के सदियो पूर्व अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सका है। काणे के अनुसार नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित विश्वकर्मा, पूर्वचार्य, कामसूत्र आदि के उल्लेख से नाट्यशास्त्र का काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्वभावी काल की ओर अधिक नही बढाया जा सकता है, किन्तु इसके बाद की तिथि को ही अधिक निश्चय के साथ स्वीकार किया जा सकता है। कालिदास ने स्पष्ट रूप से 'विक्रमोर्वशीयम्' मे भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का आचार्य स्वीकृत कर उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसो की चर्चा की है। बाण ने भरत प्रवर्तित संगीत का उल्लेख किया है। नाट्यशस्त्र मे चार ही अलकारो का उल्लेख मिलता है जबकि दण्डी भामह आदि द्वारा इसकी सख्या को तीस तक पहुँचाया गया था। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि छठी शती तक नाट्यशास्त्र का पाठ स्थिर हो चुका

था। श्री कीथ तथा श्री रेप्सन ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तीसरी शती मानते हुए इससे अधिक उत्तरवादिता का प्रतिषेध किया। डा श्री मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अग्रेजी भाषान्तर की भूमिका मे भाषा वैज्ञानिक, छन्द शास्त्रीय, खौगोलिक, जाति आदि सामग्री के आधार पर तथा काव्यशास्त्र, सगीतशास्त्र, कामशास्त्र एव बार्हस्पत्य, अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक साक्ष्य तथा अभिलेखो की सामग्री के प्रकाश मे नाट्यशास्त्र के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है। इनका मत है कि प्रवृत्तियो के साथ भौगोलिक अभिधानो की सयोजना महाभारत तथा अन्य पुराणो के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र मे सयोजित की गयी है।

श्री मनमोहन घोष ने क्षत्रपादि के अभिलेखो मे विद्यमान नाट्यशास्त्र समताओ की ओर ध्यान करते हुए– बतलाया कि इनमे प्रयुक्त 'गान्धर्व–सौष्ठव' तथा 'नियुद्ध' शब्द नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अधिक अनुकूल है। अत नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल दूसरी शती के पूर्वभावी तो है ही।

कालिदास तथा भास भी नाट्यशास्त्र से परिचित अवश्य थे। इसका कारण कालिदास ने अहकार, वृत्ति, सन्धि, वस्तु, मायूरी आदि नाट्यशास्त्रीय शब्दो का प्रयोग किया है तथा भास ने विदूषक, प्रस्तावना, सूत्रधार, भद्रमुख जैसे नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग होना। भास का समय (ईसा से पूर्वभावी) कौटिल्य से भी प्राचीन माना है, इसलिए नाट्यशास्त्र का समय निश्चित ही पूर्ववर्ती है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के स्थिति काल के विनिश्चय मे प्रत्येक विवेचक विद्वान ने पर्याप्त उहापोह किया है, परन्तु इसे निश्चित काल विशेष मे निर्भ्रान्त स्थिर करना कठिन है। यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र कालिदास तथा भास के पूर्ववर्ती है। इस सन्दर्भ मे हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र की उपरलिखित सीमा पर पहुँचती है जिसके प्रभाव की परिधि मे भास तथा अश्वघोष जैसे प्राचीन नाटककार आते है।

यदि नाट्यशास्त्र के सूत्र भाष्य शैली के स्वरूप पर विचार करे तो इसकी अति प्राचीनता स्पष्ट होगी। सूत्रकाल के आस–पास रचित होने के कारण कदाचित सूत्र रूप नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहकर वेद सदृश सम्मान भी दिया गया है। यदि नाट्यशास्त्र के सूक्ष्ममय स्वरूप मे उत्तरकाल मे कुछ आर्याए तथा पद्यात्मक विवरण जुडते गये होगे तो केवल इतने आधार को लेकर समग्र नाट्यशास्त्र को अर्वाचीन नही माना जा सकता, क्योकि इसके प्रतिज्ञान के महत्त्वपूर्ण तथा अधिक विस्तृत भाग की रचना ईस्वी पूर्व ५वी शती हो गयी थी। यदि इसमे कुछ प्रक्षिप्ताश का समायोजन हुआ भी हो तो वह एक दो शती मे यत्र–यत्र हुआ होगा, जैसा कि अनेक पुराणो, महाभारत आदि मे भी हुआ है। मनमोहन घोष तथा रामकृष्ण कवि दोनो नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् तथा समग्र नाट्यशास्त्र के सम्पादक एव अनुवादक भी थे। दोनो के विस्तीर्ण मनन का एक ही परिणाम है– नाट्यशास्त्र का ईसा पूर्व पाचवी शती मे स्थित काल निर्धारण, जो स्वीकार्य ही प्रतीत होता है।

इन सभी निष्कर्षो को दृष्टि मे रखने पर यह अनुमान सहज ही लगता है कि ईसा से पाच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोक–प्रसिद्धि अर्जित कर चुका था जिसमे भाव, रस, प्रेक्षागृह, रूपक विभेद– आदि का विवरण था। जिसका ज्ञान भास, अश्वघोष तथा कालिदास जैसे नाटककारो को था। इसके बाद तो ऐसा कोई भी काव्य अथवा नाट्यशास्त्रीय आचार्य कृतिकार नही था जो इसके प्रभाव क्षेत्र मे अपनी रचना का निर्माता न हुआ हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईस्वी शती से पूर्व ही जब नट सूत्रादि के रूप मे नाट्य विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ पाणिनी की अष्टाध्यायी (समय ८०० ईसा पूर्व की रचना) के समय बन चुके थे तो इससे भी पूर्ववर्ती नाट्य प्रयोग किसी सशक्त परम्परा से अनुप्राणित थे। अतएव पाणिनि के तीन सौ वर्ष पश्चात नाट्यशास्त्र का रचना काल माना जाय तो यह प्रामाणिकता से अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप से ईसा से पाच शती पूर्ववर्ती है।

भरत का नाट्यशास्त्र रस सिद्धान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र शताब्दियो से प्रवर्तित काव्य शास्त्र का विकसित रूप कहा जा सकता है न कि इस परम्परा का प्रवर्तन करने वाला आदि ग्रन्थ। नाट्यशास्त्र से पता चलता है कि भरत से पूर्व रस का विवेचन प्रौढता को प्राप्त हो गया था और उन्होने पूर्वाचार्यो की समस्त उपलब्धियो का उपयोग कर अपने विवेचन को पूर्ण बनाया। विभिन्न ग्रन्थो मे भरत के पूर्वाचार्यो का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमे वासुकि, सदाशिव, अगस्त्य, व्यास नन्दिकेश्वर वृद्धभरत, आजनेय आदि मुख्य है। जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर रस के और भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य माने जाते है।

राजशेखर ने अपनी काव्य मीमासा मे काव्य पुरूष के जन्म की कथा कह दी है, जिसमे कहा गया है कि काव्य पुरूष ने काव्यशास्त्र के अट्ठारह अधिकरणो को लिखने के लिए अट्ठारह शिष्यो को नियुक्त किया था, उनमे नन्दिकेश्वर ने रस और भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया–

रूपकनिरूपणीय भरत रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर ।

भारतीय काव्यशास्त्र का मूलग्रन्थ 'भरतमुनि' का नाट्यशास्त्र ही है और भरतमुनि ने मार्ग अथवा रीति का तो नही किन्तु चार प्रकार की प्रवृत्तियो का विवेचन अवश्य किया है। भरत द्वारा प्रतिपादित ये प्रवृत्तियॉ एक व्यापक आधार लिये हुए थीं। भरत के अनुसार–

अर्थात् चार प्रकार की प्रवृत्तियॉ होती है– पश्चिम भाग मे आवन्ती, दक्षिण मे दाक्षिणात्य, उडीसा तथा मगध मे– उड्रमागधी और मध्यप्रदेश मे पाञ्चाली। भरत ने प्रवृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है–

"पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ता: ख्यापयतीति प्रवृत्ति·"

अर्थात् जो पृथ्वी के नाना देशो के वेश, भाषा, आचार, वार्ता आदि को व्यक्त करे, वह प्रवृत्ति होती है। निसन्देह भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियो मे पूर्ण जीवन चर्या सिमट आती है जबकि रीति का आशय भाषा

के प्रयोग की रीति से होता है। दूसरे शब्दो मे, रीति का क्षेत्र केवल भाषा तथा अभिव्यक्ति तक सीमित है, जबकि प्रवृत्ति का क्षेत्र समूचा जीवन होता है। अत यद्यपि भरत को रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक तो नही कहा जा सकता, फिर भी इतना निर्विवाद है कि उन्होने प्रवृत्ति का प्रतिपादन करके रीति—सम्प्रदाय के लिए उपयुक्त आधार भूमि अवश्य तैयार कर दी थी।

२. भामह

आचार्य भामह प्रमुखत अलकारवादी आचार्य है। इनके परिचय के विषय मे हमे 'काव्यालकार' का आश्रय लेना पडता है, क्योकि 'काव्यालकार' मे इन्होने आत्म—परिचय से सम्बन्धित एक श्लोक लिखा है—

अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।

सुजनावगमाय भामहेन ग्रथित रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।।[1]

इस प्रकार प्रकृत श्लोक मे उन्होने अपना नाम 'भामह' और पिता का नाम 'रक्रिलगोमि' बताया है। विद्वान् उन्हे कश्मीरी मानते आये है। उनके समय को लेकर पण्डितो के बीच अनेक मतभेद है।

ईत्सिग ने अपने बौद्ध धर्म सम्बन्धी अभिलेखो मे काशिका का वर्णन किया है।[2] और यह बतलाया है कि जयादित्य की मृत्यु ३० वर्ष पूर्व हो चुकी थी। ईत्सिग ने अपनी पुस्तक ६६१ ई मे लिखी। अत जयादित्य की मृत्यु सम्भवत ६६१—६२ ई मे हुई होगी। काशिका मे अष्टाध्यायी १/३/२३ पर भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' का उल्लेख किया है—

'संशय्य कर्णदिषु तिष्ठते यः।[3]

यह उल्लेख उपरोक्त तिथि का समर्थक है। न्यासकार का कथन है कि काशिका की अनेक प्रतिलिपियॉ की गयी थीं, उनमे तत्कालीन लिपिकारो

---

१ काव्यालकार ६/६४

२ डॉ टुक्कुसुकृत अनुवाद पृ १७५, ऑक्सफोर्ड, १८६६

३ किरातार्जनीयम ३/४

ने बहुत से ऐसे उदाहरण जोड दिये, जो मूल काशिका मे नही थे– अष्टाध्यायी ६,३,७६ पर मुद्रित काशिका ने तीन उदाहरण दिये है– सकलम्, सुमुहूर्तम् और ससग्रहम्। इस पर न्यास (पृ ४६६) का कथन है–

'ससग्रहामित्येतदुदाहरण प्रमादादिदानीं तनै लेखकैर्लिखितम्। यहॉ इदानी तनै शब्द महत्त्वपूर्ण है।

कम से कम एक या दो पीढियो का अन्तर अवश्य होना चाहिए। अत न्यास की तिथि ७०० ई के पूर्व नही हो सकती। न्यासकार जयादित्य का समकालीन नही हो सकता। भामह ने न्यास का उल्लेख किया है, अत उसे ७०० ई के पश्चात् तथा ७५० ई के पूर्व रख्ना होगा।

भामह ने दिङ्नाग का लक्षण उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या भी की है। उत्तरार्द्ध मे 'कल्पना' शब्द का अभिप्राय प्रकट करते हुए उसने कहा है– वस्तु के साथ नाम, जाति आदि का सम्मिश्रण। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'कल्पनापोढम्' किया था। धर्मकीर्ति ने उसके साथ 'अभ्रान्त' जोड दिया। 'ततोऽर्थात्' मे प्रत्यक्ष के वसुबन्धुकृत लक्षण का उल्लेख है। वाचस्पति सरीखे प्रौढ और प्राचीन दार्शनिको ने भी भामह द्वारा प्रस्तुत् लक्षणो को वस्तुत दिङ्नाग तथा सुबन्धु (ततोऽर्थात्) का माना है। दिङ्नाग की दोनो रचनाएँ ५५७–५५६ ई के मध्य चीनी भाषा मे अनूदित हुई। अत दिङ्नाग ५५० ई के पूर्ववर्ती है। वे वसुबन्धु के शिष्य थे, इस आधार पर डॉ रेण्डल (इण्डियन लॉजिक इन अर्ली स्कूल्स, पृ ३१–३२) का कथन है कि वसुबन्धु की तिथि अनिश्चित है और उनके शिष्य होने के कारण दिङ्नाग की तिथि भी सदिग्ध है। सम्भवतया वे ४२०–५०० ई के मध्य हुए। अत भामह द्वारा दिङ्नाग का उल्लेख उसके तिथि–निर्णय मे विशेष सहायक नही है। भामह का तर्कशास्त्र पर कोई स्वतत्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है। सस्कृत, तिब्बती अथवा चीनी भाषा मे इस प्रकार के ग्रन्थ का कहीं उल्लेख या उद्धरण भी नहीं मिलता। धर्मकीर्ति, बौद्ध परम्परा के प्रमुख तार्किक है। उनकी तुलना केवल दिङ्नाग के साथ हो सकती है। प्रो

बटुकनाथ ने भामह की प्रस्तावना मे अपनी निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिए यहॉ तक कह दिया है कि हो सकता है धर्मकीर्ति भामह के ऋणी हो।

डॉ विद्याभूषण के अनुसार (हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इण्डियन लॉजिक पृ ३०३—३०५) धर्मकीर्ति ६३५—६५० ई के लगभग हुए। यह उल्लेखनीय है कि ह्वेनसाग भारत मे सन् ६२६—६४५ ई तक रहे, फिर भी उन्होने कही पर धर्मकीर्ति का उल्लेख नही किया। इसके विपरीत ईत्सिग ने ६७५ से लेकर ६६५ ई तक भारत की यात्रा की तथा ६६१ ई मे अपना ग्रन्थ रचा। इसमे इस बात का वर्णन है कि धर्मकीर्ति ने तर्कशास्त्र का किस प्रकार—परिष्कार किया। ईत्सिग ने बौद्ध आचार्यो को तीन युगो मे विभक्त किया है—, नागार्जुन, देव तथा अश्वघोष को प्राचीन युग, वसुबन्धु असग, सघभद्र और भवविवेक को मध्ययुग मे तथा जिन धर्मपाल, धर्मकीर्ति एव शीलभद्र आदि को उत्तर युग मे। धर्मकीर्ति, धर्मपाल के शिष्य थे, अत उनका समय ६५० अथवा ६६० ई मानना चाहिए। भामह ने धर्मकीर्ति से उद्धरण लिये है। अन्य प्रमाणो के आधार पर यह स्थापित किया जा चुका है कि भामह ७०० ई के पूर्ववर्ती नहीं है। अतएव उनका समय अधिकाश विद्वानो द्वारा प्राय विक्रम की छठी शताब्दी का मध्य काल माना जाता है।

काव्यालकार भामह की सबसे प्रसिद्ध और असदिग्ध रचना है। इसके अतिरिक्त भामह—रचित कुछ ग्रन्थो के सकेत भी यत्र—तत्र मिलते है।

१ वररूचि के प्राकृत—प्रकाश (प्राकृत व्याकरण) पर 'मनोरमा' नाम की एक वृत्ति है, जो भामह के नाम से सम्बद्ध है। पिशेल इस वृत्ति के लेखक और काव्यालकार के रचयिता को अभिन्न मानते है।

२ वृत्तरत्नाकर की स्वकृत व्याख्या[1] मे नारायण भट्ट ने 'तदुक्त भामहेन' कहकर कई छन्द उद्धृद किये है, जिससे अनुमान होता कि भामह ने कोई छन्द का ग्रन्थ भी लिखा था।

---

१ वृत्तरत्नाकर, पृ ६—७

३ राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' पर अपनी 'अर्थद्योतनिका नामक टीका मे भामह के नाम से दो उद्धरण[1] दिये है जिनमे एक छन्द–विषयक है और दूसरा अलकार–विषयक, जो 'काव्यालकार' मे नही है। इससे छन्द ग्रन्थ की रचना की पुष्टि तो होती ही है, यह अनुमान भी होता है कि काव्यालकार के अतिरिक्त भामह ने काव्यशास्त्र का कोई अन्य ग्रन्थ भी लिखा था। इसका समर्थन काव्यालकार सूत्र की कामधेनु व्याख्या (गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल–रचित) के अनेक उद्धरणो से भी होता है। वे उद्धरण भामह के नाम से है, पर काव्यालकार मे नही मिलते। भामह के जैसे सुधी आचार्य ने एकमात्र काव्यालकार लिखकर सन्तोष कर लिया होगा, ऐसा सम्भव नहीं, पर उन्होने और क्या–क्या लिखा, यह जानने का आज कोई साधन नही है।

भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र के बाद आचार्य भामह का 'काव्यालकार' ही 'काव्यशास्त्र' का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमे काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्वो पर विचार किया गया है। यद्यपि भामह ने भी काव्यमार्गो के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विवेचन नही किया है, फिर भी उन्होने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौडीय– इन दो काव्यशैलियो का विवेचन रीतियो के रूप मे किया है। काव्य के प्रसग मे रीतियो का वर्णन करने वाले काव्यशास्त्रियो मे भामह का प्रथम स्थान है। भामह के अनुसार वैदर्भी और गौडीय– इन रीतियो को अलग–अलग नही माना जाना चाहिए। उनके मतानुसार "निर्बुद्धि लोगो की दृष्टि मे गतानुगतिकतावश ये पृथक् नाम है। पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से ही हीन, प्रसन्न (प्रसाद गुण युक्त) सरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) भिन्न वैदर्भी रीति, गीत की भाति केवल श्रुति मधुर ही होती है। अलकार युक्त, अग्राम्य, अर्थवान् न्याय (लोकशास्त्र सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निबिडतादि दोषो से मुक्त) गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ है– अन्यथा, अर्थात् इन गुणो से हीन वैदर्भी भी श्रेष्ठ नही है।"

---

१ अभिज्ञान शाकुन्तल, पृ ४ और १०।

इस प्रकार भामह ने गौडीय और वैदर्भ रीतियो के पार्थक्य को अनावश्यक बताते हुए काव्य के सामान्य गुणो का विवेचन किया है। भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण है— अलकृति, अग्राम्यता, अर्थ—सौन्दर्य, लोकशास्त्र का आनुकूल्य, अनाकूलता अर्थात् जटिलता आदि का अभाव। भामह के अनुसार इन सामान्य गुणो से युक्त काव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य होता है। इस प्रकार भामह ने रीतियो के विवेचन मे उनकी प्रादेशिकता की स्थिति और उनकी रूढ वस्तुपरकता को समाप्त कर दिया।

३. दण्डी

आचार्य दण्डी के जीवन परिचय के विषय मे प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। अवन्तिसुन्दरी कथा' और 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' नामक उपलभ्यमान ग्रन्थो के आधार पर बताया जा सकता है कि नारायणस्वामी नामक विद्वान् के पुत्र भारवि (किरातार्जुनीयकार) के तीन पुत्र हुए, जिनमे मध्यम पुत्र का नाम मनोरथ था। मनोरथ के चार पुत्रो मे सबसे छोटे पुत्र का नाम वीरदत्त था। वीरदत्त की स्त्री का नाम गौरी था। वही वीरदत्त तथा गौरी दण्डी के पिता और माता माने जाते है।

दण्डी कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे। ये अपने प्रपितामह भारवि के आश्रयदाता नृपवश के आश्रय मे काञ्ची मे रहा करते थे। काञ्ची मे जब पर राजा का आक्रमण हुआ तब ये जगल मे जा छिपे। यह विप्लव ६५५ ई मे हुआ था। उस समय दण्डी की अवस्था बहुत कम थी। दण्डी के पूर्वज गुजरात प्रान्त के आनन्दपुर से आकर दक्षिण देश के अचलपुर मे बस गये। वहाँ आने वाले उनके वृद्ध प्रपितामह थे। उनके दाक्षिणात्य होने मे काञ्ची, कावेरी, चोल, कलग, मलयानिल आदि दक्षिण मे प्रसिद्ध स्थानो के उल्लेखो को ही साक्षी बनाया जाता है।

उनके दाक्षिणात्य होने के विषय मे यह भी प्रमाण उपस्थित किया जाता है कि काश्मीरी आलकारिको ने उद्धरण प्राय नहीं के बराबर दिया है। खण्डन—मण्डन के रूप मे उनका उल्लेख बिल्कुल नही किया है

जिससे स्थानकृत पक्षपात तथा आपसी प्रतिद्वन्दिताभाव व्यक्त होता है, और दण्डी को सुदूर दक्षिण निवासी प्रतीत कराता है।

दण्डी का असली नाम क्या था, इसका पता नही चलता। दशकुमारचरित के मगलाचरण के –'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्ड शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्ड' इस श्लोक मे बराबर दण्ड शब्द के प्रयोग से प्रसन्न होकर किसी ने इन्हे दण्डी कहकर सम्बोधित किया होगा और यही नाम प्रचलित हो गया होगा, जैसा कि भवभूति, माघ आदि कवियो के विषय मे प्रसिद्ध है।

दण्डी के समय पर विचार करते समय अधोलिखित बातो पर ध्यान दिया जाता है–

१ दशम शताब्दी मे उत्पन्न अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन मे लिखा है–'यथाह दण्डी–गद्यपद्यमयी चम्पू'।[१]

२ दशम शतक पूर्वार्द्ध मे उत्पन्न प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट रचित काव्यालकार सारसग्रह की लघुवृत्ति मे लिखा है – अत एव दण्डिना– **'लिम्पतीव'** इत्यादि।

३ कन्नड भाषा मे 'कविराजमार्ग' ग्रन्थ है, वह राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोघवर्ष का लिखा है। उसे स्पष्टत काव्यादर्श पर आधारित माना जा सकता है। उसका निर्माण काल ८१५ से ८७५ ई तक माना गया है।

४ सिहली भाषा मे प्रथम राजा सेन ने 'सियाकसलकार'–(स्वभाषालकार) नामक ग्रन्थ लिखा है। महावश के अनुसार उसकी रचना का काल ८४६–८६६ ई है। उस ग्रन्थ पर काव्यादर्श का प्रभाव ही नही, काव्यादर्श का नाम भी उल्लिखित है।

---

१ ध्वन्यालोक लोचन, तृतीय उद्योत, सप्तम कारिका की वृत्ति।

५ वामन ने अपने काव्यालकार सूत्र मे जिस रीति को काव्य की आत्मा बताकर विस्तृत विवेचन दिया है, वह मार्ग शब्द से दण्डी के ग्रन्थ मे वर्णित है। दण्डी के समय मे रीति शब्द का पता नही था। दण्डी ने दो ही मार्ग माने थे। वामन ने उसकी जगह पर तीन रीतियॉ स्वीकार की है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन के पूर्ववर्ती थे। वामन का समय जयापीड का राज्यकाल ७७६—८१३ ई माना जाता है।

इन बातो से दण्डी के समय की उत्तरी सीमा अष्टम शतक निश्चित है। इसी प्रकार पूर्वी सीमा पर विचार करते समय निम्नलिखित बातो पर ध्यान दिया जाता है।

१ शार्ङगधर, जह्वण तथा अन्य सुभाषितकारो ने विज्जिका नामक कवयित्री का वह श्लोक उद्धृत किया है—

नीलोत्पलदलश्यामा विज्जिका मामजानता।

वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती।।

यह आक्षेप काव्यादर्श के मगल श्लोक मे 'सर्वशुक्ला सरस्वती' यह कथन देखकर ही किया गया था। विज्जिका चन्द्रादित्य की रानी थी और चन्द्रादित्य द्वितीय पुलकेशी का पुत्र था, जिसका समय ६६० ई नियत है। इससे प्रमाणित होता है कि दण्डी उससे पहले विद्यमान रह चुके थे।

२ 'वासवदत्ता' नामक प्रसिद्ध गद्य ग्रन्थ के रचयिता सुबन्धु नामक कविवर छठी शताब्दी मे हुए थे। उन्होने दण्डी द्वारा निर्मित या आहृत 'छन्दोविचित्या सकलस्तत्प्रपञ्च प्रदर्शित' द्वारा स्मृत 'छन्दोविचिति' नामक ग्रन्थ का उल्लेख बार—बार किया है —

इस तरह दण्डी के समय की पूर्व सीमा छठी शताब्दी मानी जा सकती है। इन्ही सब बातो पर विचार करके मैक्स मूलर, वेबर, मैकडोनल, कर्नल जेकब प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् दण्डी का समय छठी शताब्दी ही

मानते है। काव्यादर्श मे एक श्लोक आया है –

रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।

ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः।।[1]

इसकी समता माघ के निम्नलिखित श्लोक से की जाती है–

रत्नस्तम्भेषु सङ्क्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।

एकाकिनोऽपि परितः पौरूषेयवृता इव।।[2]

बाणभट्टकृत कादम्बरीगत शुकनासोपदेश मे वर्तमान –

अभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहन हि तमो यौवन प्रभवम्।

इन्ही तुलनाओ के आधार पर कुछ आलोचको ने दण्डी का समय माघ तथा बाण के बाद मान लिया है, परन्तु मेरे विचार मे इस समानता मात्र के आधार पर कुछ दृढतापूर्वक नहीं कहा जा सकता।

एक और भी तर्क उपस्थित किया जाता है–अवन्तिसुन्दरी कथा मे लिखा है कि दण्डी भारवि के वशधर थे। भारवि के पिता नारायण स्वामी पहले गुजरात मे रहते थे। वहॉ से वे दक्षिण के अचलपुर आ बसे। इसी अचलपुर को अब एलिचपुर कहते है। नारायण स्वामी के पुत्र भारवि (दामोदर) के पुत्रो मे अन्यतम् मनोरथ के पुत्र वीरदत्त से गौरी नामक जननी से दण्डी का जन्म हुआ। भारवि का समय ६३४ से पूर्व का माना जाता है प्रत्येक पीढी के लिए यदि २० वर्ष का समय भी माने तो इस तरह दण्डी का समय ७वीं शताब्दी का अन्तिम भाग सिद्ध होता है।

काव्यादर्श मे कुछ बाते ऐसी भी आयी है, जिनसे दण्डी के समय पर प्रकाश पडता है। द्वितीय परिच्छेद मे 'इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मण'

---

१ काव्यादर्श, २–३०२,

२ शिशुपालवधम्, २–४

ऐसा उल्लेख है। इसमे रातवर्मा के स्थान पर राजवर्मा यह पाठभेद पाया जाता है। यह रातवर्मा या राजवर्मा पल्लवनरेश द्वितीय नृसिहवर्मा का नामान्तर था। काञ्ची के राजदरबार मे दण्डी भी रहते थे। उसी परिच्छेद मे अवन्ती की राजकन्या का भी उल्लेख है–

सैवावन्तीमया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि।

तृतीय परिच्छेदगत– 'वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरूपरि

स्थिता' मे 'बराह' पद का श्लेष चालुक्यवशी राजाओ के राजचिन्ह का द्योतक है। इसी प्रकार यमक प्रपञ्च मे आने वाले 'कालकाल' शब्द से काञ्ची के नरसिहवर्मा की उपाधि व्यञ्जित की गयी है। तृतीय परिच्छेद मे प्रहेलिका प्रकरण मे काञ्ची तथा पल्लवनृपति का नामोल्लेख आया है।

उपरोक्त सारी बातो पर ध्यान देने से दण्डी का समय निश्चित रूप से नही तो विशेष सम्भावित रूप से सप्तम शतक का अन्त भाग माना जा सकता है।

पीटर्सन ने राजशेखर के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार दण्डी के तीन ग्रन्थ प्रमाणित होते है–

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणा।

त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता।।

इस तरह आचार्य दण्डी के तीन ग्रन्थ–१ काव्यादर्श, २ अवन्तिसुन्दरी कथा, तथा ३ दशकुमारचरित– प्रमाणित होते है। जैसे–काव्यादर्श का दण्डि रचित होना सदैव से प्रसिद्ध रहा है, उसी तरह दशकुमारचरित का भी। अवन्तिसुन्दरी कथा भी इधर दक्षिणभारत ग्रन्थावली मे मुद्रित होकर प्रसिद्ध हो गयी है।

'छान्दोविचित्या सकलस्तत्प्रपञ्च प्रदर्शित' इस प्रकार का उल्लेख पाकर कुछ लोगो ने 'छान्दोविचिति' नामक चतुर्थग्रन्थ भी दण्डी का माना है, परन्तु यह स्वतत्र ग्रन्थ बना था या नही, यह किसी तरह सिद्ध नही होता

है। इसके अतिरिक्त 'छन्दोविचिति शब्द पिङ्गल का छन्द सूत्र परक भी हो सकता है। 'तस्या कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति' इस उल्लेख के आधार पर 'कलापरिच्छेद' नामक ग्रन्थ की कल्पना भी इसीतरह है।

काव्यमार्गो के सम्बन्ध मे आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श मे अपना मत व्यक्त किया है। इन्होने वैदर्भ और गोडीय दो मार्गो का उल्लेख किया है—

अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेद· परस्परम्।

तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।।[1]

अर्थात् वाणी के अनेक मार्ग है, जिनमे परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद होता है। इन मार्गो मे वैदर्भी और गौडीय मार्गो का भेद बहुत स्पष्ट है।

दण्डी के रीति विवेचन के सम्बन्ध मे डॉ नगेन्द्र के ये शब्द द्रष्टव्य है, "वास्तव मे दण्डी ने सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास मे पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान् उन्हे रीतिवादी ही मानते है।'

इस प्रकार दण्डी ने रीति के लिए मार्ग आदि शब्दो का प्रयोग किया और वैदर्भी तथा गौडीय इन दोनो मार्गो का विशद विवेचन किया।

४. वामन

रीतिवादी आचार्य वामन ने भी अपने जन्म स्थान अथवा समय के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही किया है। उन्होने भवभूति और माघ के पद्य उद्घृत किये है, अत इन्हे ७५० ई के बाद का माना जाता है, क्योकि ये दोनो कवि लगभग ७५० ई के पहले ही हुए है। भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन के सभाकवि थे, जिनका समय ७२५ ई था। इस प्रकार वामन के स्थितिकाल की ऊपरी सीमा आठवी शती का प्रथम चरण ठहरता है। आखिरी सीमा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक मे आये वामन के सन्दर्भो से

---

१ काव्यादर्श १/४०

८५० ई ठहरती है। आनन्दवर्धन अति उदार आचार्य थे, किन्तु उन्होने वामन का नामत उल्लेख नही किया, जबकि भामह का दो बार उल्लेख किया गया है।[1] उन्होने दण्डी से भी पर्याप्त सामग्री ली है, किन्तु उनका नाम भी नही लिया। इससे यह सिद्ध नही होता कि आनन्दवर्धन दण्डी और वामन से अनभिज्ञ थे। रीति शब्द का प्रयोग और 'वैदर्भ' आदि मार्गो के लिए 'वैदर्भी' आदि सज्ञाओ का निर्माण सस्कृत काव्य शास्त्र मे प्रथमतया वामन ने ही किया है। भरत से भामह तक न 'रीति' शब्द का उल्लेख था और न ही उनके लिए वैदर्भी आदि शब्दो का। आनन्दवर्धन वामन का नाम लिये बिना ही क्यो न लिखे, परन्तु जब रीति की बात—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।[2]

इस प्रकार करते है तो वे वामन के ही ऋणी सिद्ध होते है।

यह तो एक उज्ज्वल प्रमाण है कि रीतियो को दण्डी और भामह से आगे बढकर और पाञ्चाली को जोडकर तीन सख्या तक वामन ने ही पहुँचाया है। आनन्दवर्धन— लिखते है कि—

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वम्

अस्फुटितस्फुरितं सत् अशकनुवद्भिः

प्रतिपादयितं वैदर्भी, गौडी पाञ्चाली

चेति रीतयः संप्रवर्तिता।[3]

फिर भी वे रीति प्रवर्तक आचार्य 'रीति लक्षण विधायी' कहते है। रीति का लक्षण भी पहले—पहल वामन ने ही किया है। बहुवचन का प्रयोग इस तथ्य का सूचक है कि आनन्दवर्धन वामन के प्रति अतिशय श्रद्धापूर्ण हैं।

---

१ ध्वन्यालोक, पृ ११६

२ ध्वन्यालोक ३/४६ पृ ५१४

३ ध्वन्यालोक पृ ५१४

ध्वनि के प्रमुख ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के प्राचीनतर टीकाकार अभिनवगुप्त के मन मे तो कम से कम यह अभिप्राय है कि वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती है। आक्षेपालकार के उल्लेख पर वे वामन के मत को भी पूर्वपक्ष के रूप मे स्वीकृत मानते और लिखते है—

वे आगे यही लिखते है कि यह बात उनके परम गुरू मानते थे। स्पष्ट ही वामन आनन्दवर्धन से पुराने है और आनन्दवर्धन उनसे भली भॉति परिचित है। इससे सिद्ध है कि वामन ई ८५० के बाद के नही है।

इस प्रकार आचार्य वामन का आविर्भाव काल सम्वत् ८०० और ९०० विक्रमी के मध्य जान पडता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय इनका समय ८०० ई (सम्वत् ८५० वि) मानते है, जो उचित ही है। राजतरगिणीकार कल्हण ने वामन को राजा जयापीड का मत्री बतलाया है।

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक है। इन्होने रीति को काव्य की आत्मा माना है। रस के प्रति वामन का मत बहुत कुछ दण्डी से मिलता–जुलता है। दण्डी एव वामन दोनो ने ही अपने–अपने ग्रन्थो मे रस–विवेचन के लिए कुछ स्थान दिया है, किन्तु दोनो के दृष्टिकोणो मे अन्तर है। जहॉ दण्डी ने अलकार प्रकरण के अन्तर्गत रस का विवेचन किया है, वहॉ वामन ने गुण के भीतर गुणो का वर्णन करते हुए रस को उसका आवश्यक तत्त्व बतलाया है एव कान्ति गुण के अन्तर्गत रस का समावेश किया है।

दीप्तरसत्वं कान्तिः।[१]

इन्होने काव्य के दो धर्म माने है, नित्य एव अनित्य। अलकार काव्य के अनित्य धर्म है एव गुण नित्य धर्म। इस प्रकार काव्य के अनित्य धर्म अलकार मे रस का समावेश न कर, इन्होने काव्य के नित्य धर्म मे रस का अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रकार का स्थान निरूपित कर इन्होने रस के महत्व को स्वीकार किया है।

---

१ काव्यालड्कार सूत्राणि, ३/२/१४

इनका यह महत्त्व भामह एव दण्डी को ही ध्यान मे रखकर स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा इनके द्वारा भी रस को उचित प्रतिष्ठा नही दी जा सकी। भामहादि की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण अधिक उदार है। समस्त काव्य भेदो मे इन्होने नाटक को श्रेष्ठ माना है।

सन्दर्भेषु दशरूपक श्रेयः।[1]

इस प्रकार नाटक को श्रेष्ठ बतलाकर प्रकारान्तर से रस को महत्वपूर्ण स्वीकार किया है।

नाटक को श्रेष्ठ कहने का यही अर्थ था कि रस की अभिव्यक्ति नाटक से अच्छी तरह से होती है। अत रस का पूर्ण वैभव नाटक मे दिखायी पडता है।

आचार्य वामन का काव्यशास्त्र से सम्बन्धित एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति' है। काव्यशास्त्रीय परम्परा का यह सूत्र शैली मे निबद्ध ग्रन्थ है। इसमे रीतियो का प्रतिपादन, विवेचन एव समीक्षण आचार्य वामन ने अत्यधि क विस्तृत रूप मे किया है। वामन ने 'रीति' शब्द का विवेचन किया तो पूर्ववर्ती आचार्यो ने इसी के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। कोई इसे सघटनास्वरूप मानता है तो कोई वृत्तियो से अभिन्न। इस प्रकार इस काव्य सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्रीय परम्परा मे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए है, लेकिन रीति शब्द ही अधिक प्रचलित रहा है।

वामन ने 'रीति' शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी परिभाषा दी है और उसे काव्य की आत्मा कहा है, इसलिए वामन को ही रीति सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

विशिष्टपदरचना रीतिः।[2]

अर्थात् विशिष्ट पद रचना को रीति कहते है। विशिष्ट की व्याख्या

---

१ काव्यालङ्कार सूत्राणि, १/३/३०

२ काव्यालङ्कारसूत्रणि, १/२/७

उन्होने स्वय इन शब्दो मे की है– 'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् जो गुणो से सम्पन्न हो। गुणो की परिभाषा वे इस प्रकार देते है–

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा·।'[1]

अर्थात् काव्य मे शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते है। इस प्रकार वामन के अनुसार शब्द और अर्थ मे शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते है और इन गुणो से सम्पन्न पदयोजना विशिष्ट कहलाती है और यह विशिष्ट पदयोजना ही रीति है। अत वामन के अनुसार रीति का अर्थ हुआ– शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य से सम्पन्न पदयोजना। यह विशिष्ट पदयोजना ही काव्य की आत्मा है– ऐसा आचार्य वामन का मत है।

५. उद्भट

काश्मीर की सुरम्य घाटियॉ प्रकृति की अनुपम छटा एव सौन्दर्य तथा आकर्षण का ही केन्द्र नही रही, अपितु वहॉ का शान्त एव कोलाहल विहीन जीवन भारतीय मनीषा एव उत्कृष्ट चिन्तन धारा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। काश्मीर के सुरम्य एव सुशान्त वातावरण मे बैठकर हमारे मनीषियो ने अणोरणीयान से महतो महीयान का चिन्तन किया। आज भारतीय वाड्मय जो इतना समृद्ध है, उसमे काश्मीर के विद्वानो का बहुत ही योगदान रहा है। सौभाग्यवश काश्मीर के इतिहास पर कल्हण ने दृष्टि विक्षेप किया था जो राजतरगिणी के रूप मे हमारे समक्ष है। यदि राजतरगिणी न होती तो अनेक भारतीय मनीषियो एव चिन्तको के विषय मे जानने मे हम असमर्थ ही रह जाते। अतीत के गर्भ मे विलीन जिन महान् प्रतिभाओ की रक्षा कल्हण की लेखनी से हुई है, उनमे उद्भट भी एक है। कल्हण की कृति से यह विदित होता है कि आचार्य उद्भट जन्मजात काश्मीरी है। वे काश्मीर नरेश जयापीड के सभापति थे और उनका वेतन प्रतिदिन एक लक्ष दीनार था–

---

१ काव्यालङ्कारसूत्रणि, ३/१/१

विद्वान दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।

भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापति·।।[1]

जैसा कि नाम से द्योतित होता है, उद्भट काश्मीरी आचार्य थे। उद्भट ने भामह के ऊपर एक टीका लिखी थी— 'भामह विवरण टीका' नाम से। भामह का समय ७०० ई है। अत उद्भट का समय भामह के अनन्तर आठवी शताब्दी ई के आसपास होना चाहिए। आनन्दवर्धन ने इन्हे सादर अनेक स्थलो पर उद्घृत किया है।जिससे यह निश्चित होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व तो इनकी स्थिति थी ही। आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के सभासद थे।[2] आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है, अत आचार्य उद्भट को ९वी शताब्दी के पूर्व का होनाचाहिए। इस प्रकार इतना तो निर्भ्रान्त सिद्ध होता है कि भामह और आनन्दवर्धन के बीच उद्भट की स्थिति है। आनन्दवर्धन से ये बहुत पहले हो चुके है— ऐसी सम्भावना की भी गुजाइश नही है। भामह का समय लगभग ७०० ई के आसपास माना गया है, इसलिए ७५० ई से पहले उद्भट का समय निर्धारित करना युक्तिसगत नही होगा। आनन्दवर्धन चूँकि नवम शतक उत्तरार्द्ध के है, अत उद्भट को नवम शतक के उत्तरार्द्ध के पूर्व भी रखना ही होगा, कारण, आनन्दवर्धन ने उन्हे अपने ग्रन्थो मे अनेक जगह उद्धृत किया है। कश्मीर की परम्परा इन्हे एक विद्वान् पण्डित के रूप मे जयापीड का सभासद् मानती है। काश्मीर राज जयापीड एक अत्यन्त प्रतापी राजा था। वह ७७९—८१३ ई के आसपास हुआ था। वह वज्रादित्य का अन्तिम पुत्र था। कर्कोटवश के दुर्बल एव अप्रतिभाशाली राजाओ के बीच जयापीड जाज्वल्यमान नक्षत्र के तुल्य प्रकाशित था। यदि परम्परा को मान लिया जाय, तो निश्चय ही उद्भट ८०० ई के आसपास होगे और परम्परा न भी स्वीकृत की जाय, तो भी उक्त प्रकार से उनका यही समय निश्चित होता है। निष्कर्ष यह है कि आचार्य उद्भट की स्थिति ७५० से ८५० ई के मध्य की माननी चाहिए।

---

१ राजतरगिणी ४/४९५

२ राजतरगिणी ५/३४

आचार्य उद्भट द्वारा रचित कई कृतियो के बारे मे जानकारी प्राप्त हुई है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ तो 'काव्यालकार–सार–सग्रह है जो कि एक आलोच्य परक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'भामह विवरण एव 'कुमारसभव' नामक व्याख्यात्मक एव काव्यात्मक दो रचनाए और भी इनकी मानी जाती है। नाट्शास्त्र पर इनके द्वारा की गयी टीका[1] इनकी चतुर्थ कृति है। भामह विवरण तथा कुमारसभव' का पता इनके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज से मिलता है। इन्दुराज के इस उल्लेख के अतिरिक्त कुछ ऐसे तर्क भी है जो प्रस्तुत कृतियो के अतिरिक्त कृति के अस्तित्व का सकेत देते है। उदाहरणार्थ उद्भट की अलकारशास्त्रीय विविध मान्यताओ का जो अनेकत्र उल्लेख मिलता है, उनमे से बहुतो का अस्तित्व 'काव्यालकार सार सग्रह' मे दिखाई नही पडता है। इससे यह अनुमान तो निकाला ही जा सकता है कि प्रस्तुत कृति के अतिरिक्त अन्य अलकारशास्त्रीय विवेचन भी है– वह भामह विवरण हो या और कोई हो। उदाहरणार्थ– रसगगाध रकार ने ही कह दिया है कि– "अत्राहुरूद्भट्टाचार्या येन नाप्राप्ते य आरभ्यते ।" यहॉ पर जो कुछ उद्भट के नाम पर उद्घृत किया गया है, वह काव्यालकार – सार–सग्रह मे नही दिखाई देता। इतना होते हुए भी रूय्यक के इस वक्तव्य से– 'इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतय अथवा उद्भटादिभिस्तु गुणालकाराणा प्रायश साम्यमेव सूचितम्– इतना अवश्य स्थिर किया जा सकता है कि वे एक प्रामाणिक आलकारिक थे और प्रस्तुत कृति से भिन्न कोई अतिरिक्त शास्त्रीय कृति भी उनकी थी।

'कुमारसम्भव' के एकाधिक उद्धरण प्रस्तुत कृति मे ही उपलब्ध है, अत इस कृति को निर्विवाद रूप से उद्भट की ही स्वीकार कर लेना सर्वथा उचित है। जहॉ तक नाट्यशास्त्र की टीका का सम्बन्ध है, कुछ लोगो का कहना है कि उसके प्रणेता कोई दूसरे उद्भट है। इसके समर्थन मे उन लोगो का तर्क है कि उद्भट एक अलकारवादी आचार्य है। शब्दार्थ

---

१ व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशकुका। भट्टाभिनवगुप्ताश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपर।
– सगीत रत्नाकर १/१६

धर्म को ही वे महत्व देते है। रस—जैसे तत्व को वे रसवद् अलकार मे रखकर उसे गौण स्थान देते है। अलकारवादी भामह के अनुयायी भी है, तो क्या ऐसी मान्यताओ का व्यक्ति उस भरत का जो रसोद्रेक सप्लावित हृदय वाले कवि के अतस से सभूत रसनिस्पद से जीवलोक को मग्नकर देने वाले सारस्वत प्रवाह को काव्य मानता हो—टीकाकार हो सकता है ? फिर अपने ही तर्को पर पूर्ण विश्वस्त न होकर वे लोग यह भी कहते है कि हो सकता है कि भामह आदि ने भी श्रृव्य काव्य को ही अलकार—प्रधान माना हो और वहॉ रस की अलकारता सम्भव कही हो और दृश्य काव्य मे रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार की हो— रस की स्थिति की उभयत्र एकरूपता नही मानी हो। इसीलिए वही अलकारवादी उद्भट जब 'नव नाट्ये रसा स्मृता' कहते है, तो लगता है कि दृश्य काव्य की रस प्रधानता उन्हे भी ईप्सित है। निष्कर्षत वे नाट्यशास्त्र के टीकाकार हो भी सकते है। अत उद्भट को भरत का विरोधी कहकर उनके नाट्यशास्त्रीय व्याख्याता होने का विरोध करना ठीक नही है।

इन तर्को के अतिरिक्त इनके नाट्यशास्त्रीय व्याख्यान मे और अनेक अनुकूल तर्क मिलते है, जैसे—अभिनव भारती मे उद्भट से समादृत पाठ भेद तथा तदनुरूप व्याख्याए स्थल—स्थल पर मिलती है। जहॉ लोल्लट एव उद्भट द्वारा ग्रहीत पाठ मे वैमत्य लक्षित होता है, वहॉ अभिनव गुप्त प्राय उद्भट—ग्रहीत पाठ को ही प्राधान्य देते है। कुन्तक ने भी रसवदलकार निरूपण के अवसर पर उद्भट की पर्याप्त हॅसी उडाई है इससे भी उद्भट की व्याख्यातृता सिद्ध होती है। इन सब तर्कों के आधार पर उद्भट को नाट्यशास्त्र का व्याख्याता माना जा सकता है।

श्री राम स्वामीजी का विचार है कि यद्यपि कुमारसभव से भी कम अश आज 'भामह—विवरण' का उपलबध है, फिर भी निश्चय ही यह ग्रन्थ बहुत प्रौढ तथा विस्तृत रहा होगा। उनका तो यह भी अनुमान है कि हो सकता है, काव्यालकार सार सग्रह उसी का सक्षिप्त रूप हो। इस प्रकार

उद्भट की चार कृतियों का पता चल चुका है– १. भामह विवरण, २. काव्यालंकार–सार–संग्रह, ३. कुमारसंभव और, ४. नाट्यशास्त्र की टीका

१. भामह विवरण

जैसा कि ऊपर कहा चुका है उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह विवरण' नाटक टीका लिखी है। यद्यपि यह टीका सम्प्रति उपलब्ध नहीं है फिर भी काव्यशास्त्र में इतस्ततः उपलब्ध उद्भट की मान्यताओं से इस टीका के विषय में जानकारी हासिल की जा सकती है। उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुराज के रूपक प्रकरण में भामह विवरण का उल्लेख करते हुए कहा है– 'एकदेशवृत्तीत्यत्र हि एकदा अन्यथा ईशःप्रभाविष्णुर्यो वाक्यार्थस्तद्वृत्तित्वं रूपकस्याभिगतम् विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्दं एवं व्याख्यातो यथेहास्याभिर्निरूपितः। तत्र विशेषोक्तिलक्षणं– एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेषप्रथनायासो विशेषोक्तिर्मता यथा।[1] प्रतीहारेन्दुराज ने रसवदलंकार की व्याख्या में भामह विवरण में उल्लिखित उद्भट के मत का सन्दर्भ देते हुए कहा है–

'एषां च श्रृंगारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति। यदुक्तं मट्टोद्भटेन पंचरूपाः रसाः' इति। तत्र स्वशब्दाः श्रृंगारादेर्वाचकाः श्रंगारादयः शब्दाः।[2] इस प्रकार उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुराज की टीका से उद्भट के भामह विवरण के विषय में पता चलता है। बाद के आचार्यों ने भी भामह विवरण में प्रदत्त उद्भट की मान्यताओं का उल्लेख किया है।

२. काव्यालंकार-सार-संग्रह

आचार्य उद्भट की एकमात्र उपलब्ध कृति काव्यालंकार–सार–संग्रह है। इस ग्रन्थ में ६ वर्गों में ४१ अलंकारों का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में

१. काव्यालंकार–सार–संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ. २७५
२. काव्यालंकारसारसंग्रह पृ.३५५

अलकारो का वर्गीकरण सामान्यतया भामह के ही समान है। ग्रन्थ मे प्रदत्त अलकारो की परिभाषाए अधिकाश भामह की ही है, परन्तु कतिपय अलकारो का वर्गीकरण उद्भट ने अपनी प्रज्ञा से किया है। कतिपय परिभाषाओ मे ईषत् सशोधन भी किया है। विभावना की परिभाषा तथा अतिशयोक्ति, यथासख्य, सहोक्ति, ससन्देह तथा अनन्वय के प्रथम प्रकारो की परिभाषाएँ ज्यो की त्यो भामह की है तथा आक्षेप, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, विरोध और अप्रस्तुतप्रशसा अलकारो की परिभाषाए थोडे सशोधन के साथ स्वीकार की गयी है। यथायोक्त एव रसवत् अलकारो की परिभाषाओ का आधा भाग भामह का है, वहॉ भामह की परिभाषा को ज्यो की त्यो ग्रहण करने मे सकोच नहीं किया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन मे उद्भट ने सर्वत्र भामह का अन्धानुकरण ही किया है। इससे उनकी मौलिकता पर किसी भी प्रकार का दुष्प्रभाव नहीं पडता। वस्तुत- जिन नवीन अलकारो का आविष्कार उद्भट ने किया है या जो नवीन परिभाषाए उन्होने दी है, उनमे उनकी मौलिकता सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उद्भट द्वारा आविष्कृत अनेक अलकारो को मम्मट जैसे दुर्धर्ष काव्याचर्यों ने स्वीकार किया है। वस्तुत इस ग्रन्थ मे विवेचित अलकारो के द्वारा ही आचार्य ने परवर्ती अनेक आलकारिको को प्रभावित किया था।

३. कुमार संभव

आचार्य उद्भट ने एक काव्य ग्रन्थ 'कुमार सभव' की भी रचना की। इस ग्रन्थ के विषय मे उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज की टीका से जानकारी प्राप्त होती है। प्रान्तीहारेन्दुराज के अनुसार आचार्य उद्भट ने काव्यालकार–सार–सग्रह के समस्त उदाहरणो को अपने काव्यग्रन्थ 'कुमारसभव' से ही दिया है।

४. नाट्यशास्त्र की टीका

आचार्य उद्भट द्वारा लिखित नाट्यशास्त्र पर टीका के सम्बन्ध मे शारगदेव के सगीत रत्नाकर' से पता चलता है। शाङ्र्गदेव ने 'सगीत

रत्नाकर' मे भरत के व्याख्याताओ के नाम गिनाये है। जिसमे भट्टलोल्लट, श्रीशकुक, अभिनवगुप्त, और कीर्तिधर के साथ ही साथ उद्भट का भी उल्लेख है।[1] अभिनवभारती' मे भी विभिन्न स्थानो पर आचार्य उद्भट के सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है।[2] यद्यपि आचार्य उद्भट द्वारा लिखित यह व्याख्या इस समय नही प्राप्त होती तथापि नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती के विभिन्न स्थानो पर विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तो के रूप मे वह अद्यापि हमारे समक्ष विद्यमान है।

आचार्य उद्भट एक ऐसे युग का प्रतिनिधित्व करते है, जिसे सस्कृत काव्यशास्त्र का विकासकाल कहा जा सकता है, परन्तु उस काल मे भी आचार्य उद्भट ने—

काव्यशास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम सिद्धान्तो का विवेचन किया है। परवर्ती युग मे प्रवर्तित काव्यशास्त्र को अनेक शाखाओ के बीजो का उद्भट ने ही वपन किया था। इनकी मान्यताओ से प्रभावित एक सम्प्रदाय ही था, जो औद्भट सप्रदाय[3] के नाम से ख्यात है। लोचनकार ने एक स्थान पर यह कहा है कि 'उद्भटमतानुसारिणस्तु भड्क्त्वा व्याचक्षते'। विभिन्न मान्यतम आचार्यों ने जो अनेकविध विशिष्ट विशेषणो से उद्भट का स्मरण किया है— उससे उनके गरिमामय व्यक्तित्व का पता चलता है। ध्वन्यालोककार उनके लिए लिखते है— 'तत्र भवद्भिरुद्भटदिभि। अलकारसर्वस्कार— 'इह हि तावद्भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालकारकारा'— कहकर उनका चिरन्तन आलकारिको के बीच सादर स्मरण करते है।

आचार्य उद्भट के स्वतत्र विचार—प्रवर्तकत्व तथा काव्य क्रियाशिक्षण—पाटव का भी उल्लेख पूर्वक प्रशसन अन्यान्य लोगो ने किया है। भामह को ही ले लिया जाय—जिनके वे टीकाकार रह चुके है— उनके

---

१ **व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भट शंकुका।**
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।। — सगीतरत्नाकर १/१६

२ अभिनव भारती, द्वितीय वाल्यूम, पृ ७०, २७७, ३००, ३०२, ४४१, ४५१, ४५२

३ ध्वन्यालोक, द्वि उ,पृ १६२

सर्वत्र अधानुकरण की प्रवृत्ति उद्‌भट मे नही मिलती। उन्होने अपने काव्यालकार–सार–सग्रह मे भामह स्वीकृत कतिपय अलकारो को अस्वीकार कर दिया है और कतिपय को स्वीकार करके भी उसमे समुचित परिवर्तन एव सस्कार किया है और इस सस्कार को मम्मट जैसे समर्थ आचार्यो ने मान्यता प्रदान की है। साथ ही उसे अपने ग्रन्थ मे सादर ग्रहण भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उद्‌भट का आचार्यमय व्यक्तित्व पर्याप्त सम्मानास्पद दृष्टि से देखा जाता था। आचार्य उद्‌भट ने व्यञ्जना की भी थोडी सी झलक प्राप्त कर लिया था जो कि उनके भाक्तवाद के रूप मे परवर्ती काव्यशास्त्रियो की आलोचना का विषय बनी। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन, आचार्य उद्‌भट के ही समकालीन थे। अस्तु ये दोनो एक दूसरे मे अवश्य ही प्रतिबिम्बित हुए होगे। इस प्रकार हम देखते है कि काव्यशास्त्र के अनेक महान् आचार्यो पर उद्‌भट की प्रतिभा की छाप विद्यमान है।

६. रूद्रट

आचार्य रूद्रट ने भी अन्य काव्यशास्त्रियो की भॉति अपने काल–क्रम का उल्लेख नही किया है, अत इनके काल क्रम का निर्धारण इनके पूर्ववर्ती एव परवर्ती आलकारिको के आधार पर ही किया जा सकता है। रूद्रट ने 'काव्यालकार' ग्रन्थ मे ५ शब्दालकारो और ५७ अर्थालकारो अर्थात् कुल ६२ अलकारो का निरूपण किया है। अर्थालकारो मे से चार अलकार दो–दो बार वर्णित हुए है। इन अलकारो का कम कर देने पर अर्थालकारो की सख्या ५३ रह जाती है। इनमे से केवल २६ अलकार ही ऐसे है जो इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों– भरत, भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके हैं। शेष २७ अलकार केवल इन्हीं के ग्रन्थ मे सर्वप्रथम उपलब्ध होते है। इनकी आविष्कृति का श्रेय रूद्रट को दिया जाय या किसी अन्य प्रख्यात आचार्य अथवा आचार्य वर्ग को, इस सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि रूद्रट इन

पाचो आचार्यो के परवर्ती थे। रूद्रट वक्रोक्ति नामक काव्यतत्व के आधार पर भी भामह, वामन एव दण्डी के परवर्ती ठहरते है क्योकि रूद्रट से पूर्व वक्रोक्ति अभी एक व्यापक एव सर्वमान्य काव्य तत्त्व की प्रतिपादिका थी, इसे सकुचित एव विशिष्ट रूप रूद्रट द्वारा ही मिला।

वामन को भामह और दण्डी से परवर्ती माना जाता है। इनका समय ८वी शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। रूद्रट वामन से परवर्ती है, अत रूद्रट का समय ८वी शती के बाद का मानना चाहिए। यह उनके समय की उच्चतम् सीमा है। अर्थात् इससे पहले इनके अस्तित्व का प्रश्न भी उपस्थित नही होता। रूद्रट के समय निर्धारण के प्रसग मे कतिपय तथ्य भी उल्लेखनीय है–

शिशुपाल वध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ मे यह सकेत किया है कि उन्होने रूद्रट प्रणीत एक अलकार ग्रन्थ की भी टीका प्रस्तुत की है।[1]

हैन्श के अनुसार उक्त टीका मे उद्घृत अनेक पद्य ऐसे है जो वस्तुत रूद्रट के काव्यालकार से ग्रहीत है।[2] इसके अतिरिक्त उद्भट प्रणीत काव्यालकार के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने भी रूद्रट की कम से कम तीन कारिकाओ एव उदाहरण को उद्घृत किया है।[3]

बल्लभदेव और प्रतीहारेन्दुराज दोनो का समय दशमशती का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अत रूद्रट के समय की यही निम्नतम् सीमा स्वीकृत की जानी चाहिए अर्थात् इसके बाद उसका जीवन नही समझना चाहिए।

इस प्रकार उक्त दोनो सीमाओ ८वी शती का उत्तरार्द्ध और दसवी शती के पूर्वार्द्ध को देखते हुए रूद्रट का समय नवीं शती का मध्य भाग मानना चाहिए, किन्तु यही एक शका उत्पन्न होती है कि आनन्दवर्धन ने,

---

१ शिशुपाल वध, ४२/६/२८ टीका भाग

२ काव्यालकार २४४, ४८, ५५

३ काव्यालकार ७/३५–३६, १२/४

जो कि रूद्रट के समकालीन माने जाते है, न तो इनके किसी सिद्धान्त का उल्लेख किया है और न उनके ग्रन्थ काव्यालकार से कोई कारिका या उदाहरण प्रस्तुत किया, इसका कारण क्या हो सकता है ? इसका एक तो सम्भव कारण यह है कि उन्होने रूद्रट के इस ग्रन्थ को नहीं देखा होगा शायद उन्हे यह उपलब्ध ही न हुआ हो। दूसरा कारण यह है कि उन्होने इसे अपने ध्वनि सिद्धान्त से किञ्चित् अलग सा पाकर अथवा रूद्रट की कुछ एक धारणाओ से असहमत होते हुए इसे उद्घृत करने की आवश्यकता ही नही समझी, किन्तु दूसरा कारण मनस्तोषण प्रतीत नही होता, क्योकि आनन्दवर्धन जैसा मर्मविद् एव प्रबल आचार्य रूद्रट की विरोधी धारणाओ को उद्घृत करने के उपरान्त उनका खण्डन अवश्य करता। विशेषत उस स्थिति मे जबकि उन्होने अनेक पूर्ववर्ती मान्यताओ का खण्डन किया है। अनेक ग्रन्थो एव ग्रन्थकारो को उद्घृत किया है। जबकि उन्हे अपने ग्रन्थ की वृत्ति मे ऐसे प्रसगो को उद्घृत करने का पर्याप्त अवसर भी प्राप्त था और जबकि रूद्रट का काव्यालकार कोई सामान्य कोटि का ग्रन्थ भी नही है– कि जिसे उद्घृत करने की कोई आवश्यकता नही समझी हो। अस्तु उपर्युक्त पहला कारण ही मान्य है कि उन्होने इस ग्रन्थ को किरी कारण से नही देखा होगा। रूद्रट का समय विक्रमीय नवम् शताब्दी का मध्यकाल जान पडता है।

आचार्य रूद्रट ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यालकार मे दो प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख किया है– समास युक्त और समास रहित। इन वृत्तियो मे से समास युक्त वृत्ति की तीन रीतियॉ बतायी हैं, जो पाञ्चाली, गौडीया और लाटीया नाम से जानी जाती है। इनमे क्रमश लघु, मध्य और आयत–समास युक्त रचना होती है।[1] इस प्रकार रूद्रटाचार्य के मत मे भी काव्यमार्ग या रीतियो की संख्या तीन ही है।

---

१ काव्यालंकार (रूद्रट) श्लोक सख्या ३

७. आनन्दवर्धन

ध्वन्यालोकार आनन्दवर्धनाचार्य कश्मीर–निवासी थे। ये कवि, समालोचक और दार्शनिक थे। अपनी विद्वता के कारण इन्होने राजानक की उपाधि प्राप्त की थी। आनन्दवर्धन का समय बहुत कुछ निश्चित है। प्रसिद्ध कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने 'राजरगिणी' मे आनन्दवर्धन का उल्लेख इस प्रकार किया है–

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविराजानन्दवर्धन·।

प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।[१]

अवन्तिवर्मा के साम्राज्य मे मुक्ताकण, शिवस्वामी और आनन्दवर्धन कवि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। इनका अभिप्राय यह है कि अवन्तिवर्मा के समय मे आनन्दवर्धन एक कवि के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बुह्लर और जैकोबी ने अवन्तिवर्मा का समय ८५५–८८३ ई निर्धारित किया है। यद्यपि आनन्दवर्धन के समय को निश्चित तिथि के रूप मे निर्धारित करना कठिन है, तथापि कल्हण के इस श्लोक से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे ८५५–८८३ ई के मध्य मे अवश्य रहे होगे।

कुछ विद्वानो के अनुसार अवन्तिवर्मा के पुत्र शकरवर्मा (८८३–९०२ ई) के समय मे भी आन्दवर्धन रहे थे। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे यशोवर्मा के द्वारा रचित 'रामाभ्युदय' नाटक के एक श्लोक को[२] आशिक रूप मे उद्घृत किया है। इन विद्वानो के अनुसार शकरवर्मा का ही दूसरा नाम यशोवर्मा था।[३]

---

१ राजतरगिणी ५/३४

२ तत्र शुद्धस्योदाहरण यथा रामाभ्युदये– **'कृतककुपितै '**– इत्यादि श्लोक
–ध्वन्यालोक ३/३–४ की वृत्ति से

३ कवि एम रामकृष्ण भट्ट ने अपने लेख– **''जयन्त एण्ड यशोवर्मन ऑफ कश्मीर'** मे जो आचार्य पुष्पाञ्जलि वोल्यूम, कलकत्ता १९४० मे प्रकाशित हुआ, यशोवर्मा और शकरवर्मा के एकत्व को सिद्ध किया गया है।
सुनील चन्द्र राय के लेख– **''दि आइडेन्टिटी आफ दि यशोवर्मन ऑफ सम मिडिविअल कायन्स''** मे जो जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी– वो XVII न ३१५१ मे प्रकाशित हुआ, यशोवर्मन और शकरवर्मा के एकत्व को प्रतिपादित किया गया हैं

न्यायमञ्जरी का लेखक जयन्तभट्ट शकरवर्मा का समकालीन था। उसने ध्वनि–सिद्धान्त की जिस ढग से आलोचना की है, उससे वह आनन्दवर्धन का समकालीन प्रतीत होता है। अत यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन इन दोनो ही राजाओ–अवन्तिवर्मा के समय मे कवि के रूप मे प्रसिद्धि पायी होगी और जीवन के उत्तरकाल मे समालोचक के रूप मे प्रसिद्ध हुए होगे।

आनन्दवर्धन के समय के सम्बन्ध मे जैकोबी महोदय ने एक अन्य सम्भावना प्रकट की है। कल्हण ने 'राजतरगिणी' मे जयापीड और ललितापीड के समकालीन मनोरथ नामक कवि का उल्लेख किया है। वह श्लोक इस प्रकार है–

मनोरथः शङकदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।

बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।।[1]

अभिनवगुप्त ने लोचनटीका मे 'ध्वन्यालोक' के वृत्तिभाग के 'अन्येन कृत एवात्र श्लोक' की अन्येन पद की व्याख्या इस प्रकार की है– "तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकाल भाविना मनोरथनाम्नाकविना।" इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार आनन्दवर्धन और मनोरथ समकालीन थे। जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का समय ७८०–८१३ ई रहा। अत आनन्दवर्धन को इसी समय होना चाहिए।

परन्तु जैकोबी का यह तर्क सर्वथा असगत है। कल्हण के ही अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। उनको ललितापीड के समकालीन पहुँचाना सर्वथा असगत है और परम्पराओ को भग करना है। इसी श्लोक मे वामन का उल्लेख है, जो कि निश्चित रूप से आनन्दवर्धन से प्राचीन है। राजतरगिणी के इस श्लोक मे मनोरथ के उल्लेख का स्पष्टीकरण अनेक प्रकार से हो सकता है–

---

१ राजतरगिणी ४/४९७–न्याय मञ्जरी पृ ७५ (काशी सस्कृत सीरीज)

१ कल्हण ने जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल मे मनोरथ का निर्देश करने मे गलती की होगी।

२ अभिनव ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहने मे गलती की होगी।

३ 'राजतरगिणी' मे उद्घृत यह मनोरथ एव अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट मनोरथ दो भिन्न व्यक्ति रहे होगे।

बाह्य प्रमाणो से भी आनन्दवर्धन का यही समय सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय ८०० ई के लगभग का है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशसा की है।

राजशेखर का समय ६०० ई के लगभग का है। अत आनन्दवर्धन के समय को नवी शताब्दी के मध्य से लेकर समाप्ति तक का सरलता से कहा जा सकता है और विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन का अन्तिम समय ६०२ ई समझा जा सकता है।

आनन्दवर्धन के वश एव जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे कोई सामग्री प्राप्त नही होती। केवल यही जाना जा सकता है कि वे नोण या नोणोपाध्याय के पुत्र थे। ध्वन्यालोक की एक पाण्डुलिपि मे तीसरे उद्योत के अन्त मे उन्होने अपने को नोणसुत कहा है। देवीशतक के १०१वे श्लोक मे आनन्दवर्धन ने स्वय को नोणसुत कहा है।

आनन्दवर्धन की सबसे प्रसिद्ध रचना 'ध्वन्यालोक' है जो कि काव्यशास्त्र का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आनन्दर्धन ने कुछ काव्य तथा दर्शन ग्रन्थ भी लिखे थे। 'देवीशतक', 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुन चरित' इनके तीन काव्य थे। इनके द्वारा लिखित दो दर्शन ग्रन्थो की रचना का भी सकेत मिलता है। १ तत्त्वालोक और २ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिकृत 'प्रमाणविनिश्चय' पर आचार्य धर्मोत्तर की 'प्रमाणविनिश्चयटीका' पर टीका। इन रचनाओ के अतिरिक्त सुभाषितावलियो मे आनन्दवर्धन के

१ कल्हण ने जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल मे मनोरथ का निर्देश करने मे गलती की होगी।

२ अभिनव ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहने मे गलती की होगी।

३ 'राजतरगिणी मे उद्घृत यह मनोरथ एव अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट मनोरथ दो भिन्न व्यक्ति रहे होगे।

बाह्य प्रमाणो से भी आनन्दवर्धन का यही समय सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय ८०० ई के लगभग का है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशसा की है।

राजशेखर का समय ६०० ई के लगभग का है। अत आनन्दवर्धन के समय को नवीं शताब्दी के मध्य से लेकर समाप्ति तक का सरलता से कहा जा सकता है और विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन का अन्तिम समय ६०२ ई समझा जा सकता है।

आनन्दवर्धन के वश एव जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे कोई सामग्री प्राप्त नही होती। केवल यही जाना जा सकता है कि वे नोण या नोणोपाध्याय के पुत्र थे। ध्वन्यालोक की एक पाण्डुलिपि मे तीसरे उद्योत के अन्त मे उन्होने अपने को नोणसुत कहा है। देवीशतक के १०१वे श्लोक मे आनन्दवर्धन ने स्वय को नोणसुत कहा है।

आनन्दवर्धन की सबसे प्रसिद्ध रचना 'ध्वन्यालोक' है जो कि काव्यशास्त्र का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आनन्दर्धन ने कुछ काव्य तथा दर्शन ग्रन्थ भी लिखे थे। 'देवीशतक', 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुन चरित' इनके तीन काव्य थे। इनके द्वारा लिखित दो दर्शन ग्रन्थो की रचना का भी सकेत मिलता है। १ तत्त्वालोक और २ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिकृत 'प्रमाणविनिश्चय' पर आचार्य धर्मोत्तर की 'प्रमाणविनिश्चयटीका' पर टीका। इन रचनाओ के अतिरिक्त सुभाषितावलियो मे आनन्दवर्धन के

नाम से कुछ पद्य उद्‌घृत मिलते है। आनन्दवर्धन की रचनाओ का परिचय निम्न प्रकार से है–

१. देवीशतक

आनन्दवर्धन ने इस काव्य की रचना भगवती दुर्गा की आराधना करने के निमित्त से की थी। इस काव्य मे उन्होने अपनी चित्रकाव्य रचना की चातुरी को प्रदर्शित किया है। इसमे यम, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्र, प्रहेलिका, चतुरर्थ, श्लेष आदि अलकारो का नियोजन किया गया है। इस काव्य के कारण आनन्दवर्धन की बहुत अधिक आलोचना हुई थी। एक ओर तो आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य मे यमक आदि अलकारो का निबन्धन रस मे विघ्न उत्पन्न करने वाला होता है। दूसरी ओर 'देवीशतक' मे उन्होने स्वय इन अलकारो का आयोजन किया है। इसी कारण 'व्यक्ति विवेक' मे ध्वनिकार की आलोचना करते हुए महिमभट्‌ट ने लिखा है कि जो अपनी ही कृतियो मे साम्य नही रख सका, वह दूसरो को उपदेश कैसे दे सकता है।

२. विषमबाण लीला

आनन्दवर्धन का यह काव्य उपलब्ध नहीं है। इस काव्य के दो श्लोको को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे उद्‌घृत किया है।[1]

३. अर्जुन चरित

आनन्दवर्धन रचित यह काव्य भी उपलब्ध नही है। इस काव्य की रचना के सकेत भी ध्वन्यालोक मे है।[2]

---

१ यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम् –
ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिएहिं छेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआईं होन्ति कमलाईं कमलाईं।। ध्वन्यालोक २१ की वृत्ति से

२ **एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसंगे वैशद्येन प्रदर्शितम्।**
ध्वन्या. ३–२५ की वृत्ति से

४. तत्त्वालोक

आनन्दवर्धन का यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नही है। इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका मे किया है।[1] सम्भवत यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त पर लिखा गया था।

५. प्रमाणविनिश्चय की टीका की टीका

इस कृति का सकेत 'ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत की ४७वी कारिका की वृत्ति मे मिलता है। यह सकेत लक्षण के अनिर्देश्यत्व के प्रसग मे है। बौद्ध सब पदार्थो को क्षण भगुर मानते है। इसलिए उनके अनुसार किसी भी वस्तु का लक्षण नही किया जा सकता। वह अनाख्येय और अनिर्देश्य होता है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया है— बौद्धो के मत मे जो सभी पदार्थो के लक्षण को अनिर्देश्य कहा गया है, इनके मत की परीक्षा दूसरे ग्रन्थ मे करेगे।[2] अभिनव गुप्त के अनुसार यह दूसरा ग्रन्थ धर्मोत्तर की विनिश्चय टीका है।[3] प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने बौद्ध दर्शन पर 'प्रमाणविनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस पर आचार्य धर्मोत्तर ने प्रमाण विनिश्चय 'टीका' लिखी थी। आनन्दवर्धन ने इस टीका पर टीका लिखी थी। वे धर्मकीर्ति से भी परिचित रहे होगे, क्योकि उन्होने धर्मकीर्ति के इस श्लोक को 'ध्वन्यालोक' मे उद्घृत किया है।

६. ध्वन्यालोक

आनन्दवर्धन का सबसे प्रसिद्ध, विद्वतापूर्ण और प्रौढ ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'

---

१ येऽप्यविभक्त स्फोट वाच्य तदर्थ चाहु, तैरप्यविद्यापदपतितै—
सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्व परमेश्वराद्वय ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थ विरचयतेत्यास्ताम्।
ध्वन्या १३ की वृत्ति पर लोचन टीका से

२ यस्त्वनिर्देश्यत्व सर्वलक्षणविषय बौद्धाना प्रसिद्ध तत्तन्मतपरीक्षाया ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्याम।
—ध्वन्यालोक ३—४७ की वृत्ति से।

३ ग्रन्थान्तर इति। विनिश्चयटीकाया धर्मोत्तर्या या विवृत्तिरमुना ग्रन्थाकृता तत्रैव तद् व्याख्यातम्।
—ध्वन्यालोक लोचन टीका

है। यह ग्रन्थ चार उद्योतो मे विभक्त है। ग्रन्थ के स्पष्ट रूप से तीन भाग है— कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण। इस ग्रन्थ मे विषय का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है।

प्रथम उद्योत

इसमे ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थापना की है। ध्वनि को काव्य की आत्मा बताकर ध्वनि विरोधी तीन मतो—अभाववादी भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का खण्डन किया है। काव्य मे वाच्य, प्रतीयमान दो प्रकार के अर्थ तथा अर्थ के तीन प्रकार—वस्तु, अलकार और रस का प्रतिपादन किया है। ध्वनि के मुख्य भेदो का वर्णन किया है।

द्वितीय उद्योत

इसमे ध्वनि के भेद और उसके स्वरूप की व्याख्या, ध्वनि के भेदो का वर्णन, गुण एव अलकार भेद बताया है।

तृतीय उद्योत

दूसरे उद्योत मे व्यग्य अर्थ के भेद से ध्वनि के भेद प्रदर्शित किये थे। तीसरे उद्योत मे व्यञ्जक के भेद से ध्वनि के भेदो का वर्णन किया गया है। सघटना की व्यञ्जकता का विस्तार से वर्णन किया है। रस के अनुगुण वृत्तियो का विवेचन किया है। गुणीभूतव्यङ्गय काव्य का विवेचन और चित्रकाव्य का स्वरूप के उपरान्त रीतियो एव वृत्तियो के सम्बन्ध मे सक्षेप मे अपने मत को कहा है।

चतुर्थ उद्योत

इसमे ध्वनिकार ने प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से वर्णन किया है। रामायण—करूण रस प्रधान तथा महाभारत—शान्त रस प्रधान काव्य है। कवियो के काव्यो मे साम्य की ग्राह्यता और त्याज्यता का वर्णन किया है और अन्त मे ग्रन्थकार ने सहृदयो की उन्नति के लिए और ध्वनि काव्य की रचना के लिए ध्वनि के मार्ग का उन्मीलन कर दिया है।

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की आलोचना करते हुए कहा है कि रीतियो एव वृत्तियो का प्रतिपादन अनुपयोगी है, क्योकि रीतिवादी आचार्यो ने काव्य के मूलतत्त्व को न समझकर 'रीति' को काव्य की आत्म मान लिया, जो कि रीतिवादी आचार्यो की भ्रान्त कल्पना का परिणाम है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रीतियो की अनुपयोगिता सिद्ध करके 'ध्वनि' मार्ग का प्रतिपादन किया है। ध्वनि को ही उन्होने काव्य की आत्मा कहा—

काव्यस्यात्मा ध्वनिः।[१]

ध्वनि का स्वरूप निरूपण करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते है कि जहॉ अर्थ स्वय को तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते है।[२]

८. राजशेखर

राजशेखर एक सिद्धहस्त नाटककार, प्रौढ महाकवि, गम्भीर मीमासक और चतुर विद्वान् थे। वे महाराष्ट्र देशवासी थे और यायावर वश मे उत्पन्न हुए थे। यायावर का अर्थ है जो निरन्तर चलने वाले हो। प्राचीन समय के ऋषियो मे दो प्रकार के ऋषि होते थे— १ यायावरीय और २ शालीय। यायावरीय का व्रत था कि वे एक जगह न रहकर प्राय यात्रा करते रहते थे। सन्यासियो के लिए भी यही नियम है, परन्तु यायावरीय सन्यासी नही होते थे। ये गृहस्थ या वानप्रस्थी सन्त थे। महाराष्ट्र देश मे कुछ ऐसे सन्त आज भी देखे जाते है, जो गौवो और अनेक व्यक्तियो को साथ लेकर प्राय यात्रा और भजन कीर्तन करते रहते है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी एक सूक्त मे ऐसे यायावरो का वर्णन आया है कि 'निरन्तर यात्रा करने वाले व्यक्तियो की जाघे पुष्ट होती है, आत्मा प्रबल होती है और यात्रा श्रम से उनके पाप

---

१ ध्वन्यालोक — कारिका—१

२ **यत्रार्थ शब्दो या तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।**
व्यड्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित ।। —ध्वन्या १/१३

दूर हो जाते है। आदि।[1] ऐसे ही एक यायावर महात्मा के वश मे जन्म लेने के कारण राजशेखर ने गौरव वृद्धि के लिए अपने वश को यायावरीय वश से अलकृत किया है। बालरामायण की प्रस्तावना मे अपना परिचय देते हुए उन्होने लिखा है कि वे महाराष्ट्र चूडामणि अकालजलद के चतुर्थ अर्थात् प्रपौत्र और दुर्दुक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम शीलवती था।[2] इस नाटक की प्रस्तावना से यह भी पता चलता है कि उनके पिता किसी राज्य के महामत्री भी थे। वे स्वय अपने को उपाध्याय लिखते है। अत वे ब्राह्मण थे।

राजशेखर का समय निर्णय करना अन्यान्य सस्कृत कवियो के समान दुरूह नहीं है। राजशेखर ने जो चार नाटक लिखे है, उन सबकी प्रस्तावना मे गौरव के साथ उन्होने अपने को कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का गुरू बताया है।[3] अन्तिम नाटक 'बालभारत मे —महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना सरक्षक लिखा है। महेन्द्रपाल का दूसरा नाम निर्भयराज भी था। कर्पूरमञ्जरी सट्टक मे उसे निर्भयराज के नाम से स्मरण किया गया है।[4] बाल भारत नाटक मे महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना सरक्षक माना है। इससे यह सिद्ध है कि राजशेखर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के विद्यागुरू और मृत्यु के अनन्तर उनके पुत्र महीपाल के भी सभाकवि थे।

---

१ **पुष्पिण्यौ चरतो जड्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहि ।**
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हता ।।

ऐतरेय ब्राह्मण, ७ १५, २

२ **तदामुष्यायणय महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो वौर्दुकि**
शीलवतीनुसूरूपाध्याय श्री राजशेखर इत्यपर्याप्त बहुमानेन।

— बालरामायण—१

३ **किमपरमपरै परोपकारव्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य।**
रघुकुलतिलको महेन्द्रपाल सकलकलानिलय· स यस्य शिष्य ।।

विद्धशालमञ्जिका अक—१

४ **बालकवि कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्याय ।**
इत्यस्य परम्परया आत्मा महात्म्यमारूढ ।।

—कर्पूरमञ्जरी १—६

राजा महेन्द्रपाल गुर्जर–प्रतिहार वश का राजा था। राजपुताने के गुर्जर–प्रतिहार वश के शासक नागभट्ट ने, जिसकी राजधानी भिन्नमाल या भिलमान थी, सर्वप्रथम कन्नौज पर शासन स्थापित किया। नागभट्ट के उत्तराधिकारी रामभट्ट ने ८३४ से ८४० ई तथा उसके पुत्र मिहिर भोज ने सन् ८४० से ८६० ई तक शासन किया। इसने अपने को विष्णु का अवतार कहकर आदिवराह की उपाधि धारण की। मिहिर भोज का पुत्र महेन्द्रपाल था। पजाब को छोडकर समस्त आर्यावर्त मे इसका राज्य था। इसकी राजधानी गगातट पर स्थित गाधिपुर थी।

गाधिपुर और महोदय– ये दोनो कान्यकुब्ज के नाम है, जो आजकल कन्नौज के नाम से विख्यात है। रायबरेली के असनी ग्राम मे तथा शिउनी मे प्राप्त शिलालेखो म राजा महेन्द्रपाल की चर्चा है, जो विक्रम सवत ६७४ (ई सन् ६१७–१८) का है। इस दृष्टि से कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का समय विक्रमाब्द ६४७ से ६६५ (ई सन् ८६०–६०८) तक, अर्थात् १८ वर्षो का होता है। उसके पुत्र महीपालदेव का समय विक्रमाब्द ६६७–६६७ (ई सन् ६१०–६४०) तक है। (अत राजशेखर का समय विक्रमाब्द ६३७–६७७ (ई सन् ८८०–६२०) तक निर्विवाद माना जा सकता है।

राजा महीपालदेव की सभा मे एक प्रसिद्ध कवि आर्य क्षेमीश्वर थे, जिन्होने चण्डकौशिक नामक नाटक की रचना की है। इसका हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सत्य हरिश्चन्द्र नाम से किया है। ये राजशेखर के समय या उसके कुछ अनन्तर महीपाल के सभाकवि रहे होगे। इनके सम्बन्ध मे आर डी बनर्जी ने लिखा है कि आर्य क्षेमीश्वर का सरक्षक महीपाल, बगाल के पाल वश का राजा था और चण्डकौशिक का निर्माण बगाल मे हुआ था।[1] परन्तु यह बनर्जी महोदय का भ्रममात्र है। कारण यह कि आर्य क्षेमीश्वर ने अपने नाटक की प्रस्तावना मे महीपाल देव

---

१ आर डी बनर्जी पाल्स ऑफ बगाल, पृ ७३।

के सम्बन्ध मे लिखा है कि महीपाल ने कर्नाटको को हराया था।[1] ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध है कि राष्ट्रकूट वश के राजा तृतीय इन्द्र ने कन्नौज के महीपाल को पराजित किया था। महीपाल ने चन्देल राजा हर्षदेव की सहायता से पुन राज्य प्राप्त किया। यह घटना ई सन् ९१५–९१७ की है। अत क्षेमीश्वर को बगाल के पालवशीय राजा महीपाल का सभापण्डित मानना कथमपि युक्तिसगत नही है, क्योकि इस पालवश के किसी भी राजा ने कर्नाटक की लडायी नही लडी थी और न आर्य चाणक्य की नीति का अनुसरण ही किया था। इस विषय पर अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते है, किन्तु विस्तार न करके इतना कहना ही पर्याप्त होगा।

उक्त प्रमाणो से विक्रम की नवम् शताब्दी का मध्यभाग राजशेखर का निश्चित समय माना जा सकता है। साहित्यकारो की दृष्टि से भी राजशेखर का यही समय हो सकता है। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे कश्मीर के उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन तथा कन्नौज के वाक्पतिराज देव एव भवभूति के नाम उद्घृत किये है।[2] इनमे उद्भट कश्मीर के राजा जयापीड की सभा के सभापति थे।[3] जयापीड का समय विक्रमाब्द ८३६'८७० (ई सन् ७७६–८१३) है। यही समय वामन का भी है।[4] सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक के रचयिता

---

१ **य सश्रित्य प्रकृतिगहनामार्य चाणक्यनीति जित्वा नन्दान् कुसुमनगर चन्द्रगुप्तो जिगाय।**
कर्णाटत्व ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तु, दोर्दर्पाढय स पुनर भवाच्छ्रीमहीपाल देव ।। -
चन्डकौशिक १।

२ **कविर्वाक्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवित ।**
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम।।

–राजतरगिणी, तरङ्ग ४–१४०

३ **विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यह कृतवेतन ।**
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तु सभापति ।।

–राजतरगिणी ४/४९५)

४ **मनोरथ शखदत्तश्चटक सन्धिमास्तथा।**
बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण ।।

राजतरगिणी, तरग–५ श्लोक–४९६

आनन्दवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे[1] , जिनका शासनकाल विक्रमाब्द ६१४—६४१ (ई सन् ८५७—८८४) था। इन आचार्यो के सिद्धान्तो और उक्तियो को राजशेखर ने उद्घृत किया है। अत वामन और आनन्दवर्धन के कुछ ही उपरान्त राजशेखर का होना निश्चित है। इसके पूर्व उनका अस्तित्व नही माना जा सकता।

इधर राजशेखर को क्षेमेन्द्र[2] सोमदेव और सोड्ढल ने उद्घृत किया है। ये तीनो कवि विक्रमाब्द १०४०—१०६० के लगभग हुए है। अत इनके पूर्व राजशेखर का होना सिद्ध है। श्रीकृष्णचरित महाकाव्य के प्रणेता मखक ने भी राजशेखर की चर्चा की है।[3] यह ग्यारहवी शताब्दी का है। इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा तथा सुवृत्ततिलक मे राजशेखर को उद्घृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी भरत नाट्यशास्त्र की टीका मे राजशेखर के नाटको के पद्य उद्घृत किये है। मम्मट ने काव्य प्रकाश मे प्राय राजशेखर के नाटको से उदाहरण लिये है, अत वे इनके पूर्वकालीन थे। अतएव इनका सभावित काल विक्रमाब्द ६३० से ६७७ तक निर्धारित करना समुचित प्रतीत होता है।

राजशेखर का प्रधन ग्रन्थ काव्यमीमासा है, जो अट्ठारह अधिकरणो मे पूर्ण हुआ है। उसका प्रथम अधिकरण प्राप्त हुआ है, जिसका नाम कवि

---

१ **मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन ।**
प्रथारत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मण ।।

—राजरगिणी, तरग ५—१४६)

२ क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थो के अन्त मे लिखा है—कश्मीर के राजा अनन्ददेव के शासनकाल मे ग्रन्थ रचना की। यह अनन्तदेव कवियो का सम्मानकर्ता और भोजराज का समकालीन था। इसका समय ईस्वी सन् १०५० है—
सच भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतो।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्ता कविबान्धवौ।।

—राजतरगिणी, तरग ७ श्लोक—२५६

३ **प्रक्रमैर्हठवक्रिम्णौ मुरारिमनुधावत ।**
श्रीराजशेखरगिरौ नीवी यस्योक्तिसम्पदाम।।

—श्रीकण्ठचरित, स २५ श्लोक—७४)

रहस्य है। यह काव्य मीमासा नामक महानिबन्ध का अट्ठारहवॉ भाग है। इसके शेष सत्रह भागो का पता नही चलता। यह अधिकरण इतना महत्वशाली है और अभिनव विचारो से परिपूर्ण है कि इसे अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है। यदि यह सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध होता तो इसे नि सन्देह साहित्य ससार का अमूल्य रत्न कहा जाता। यह राजशेखर की अन्तिम रचना है। अत यह सम्भव है कि वे अन्तिम जीवन मे इसे पूर्ण न कर सके हो। कुछ प्रमाणो से यह माना जा सकता है कि वे इस ग्रन्थ को पूर्ण कर चुके थे, किन्तु हमारे दुर्भाग्य से उसका शेष अश प्राप्त न हो सका।

वर्तमान समय मे राजशेखर की पॉच रचनाऍ प्राप्त है—

१ कर्पूरमञ्जरी (सट्टक) २ विद्धशालभञ्जिका (नाटिका), ३ बालरामायण (नाटक), ४ बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव (नाटक), ५ काव्य मीमासा।

राजशेखर ने कविरहस्य नामक प्रकरण मे रीति, रस अलकार तथा अन्यान्य विषयो के प्रसगो पर लिखा है कि इसे अगले प्रकरण मे कहेगे। जैसे—शास्त्र—निर्देश प्रकरण मे अलकार को वेद का सातवा अग मानते हुए वे कहते है कि अलकार की व्याख्या आगे करेगे।[1] रीतियो के सम्बन्ध मे भी उन्होने ऐसा ही कहा है कि उन्हे आगे कहेगे। मन्त्रसिद्धि द्वारा कवित्व प्राप्ति के सम्बन्ध मे भी उन्होने लिखा है कि इस विषय को औपनिषदिक प्रकरण मे कहेगे।[2] इन बातो से सिद्ध होता है कि या तो वे समस्त ग्रन्थ की रचना कर चुके होगे या उसका विषय—विभाग करके ही रह गये होगे।

कार्व्यमार्ग अथवा रीति को दृश्य काव्य की आत्मा मानते हुए वामन आदि आलकारिको ने इसे काव्य का प्रधान अग माना है। राजशेखर ने इन रीतियो के निरूपण के लिए पृथक एक अधिकरण की भी रचना की है।

---

१ काव्य मीमासा, अध्याय—२

२ काव्यमीमासा— अध्याय—३

तृतीय अध्याय मे एक सरस पौराणिक कल्पना द्वारा काव्य की इन वृत्तियो–प्रवृत्तियो–रीतियो का स्वरूप–वर्णन करते हुए उनके क्रम–विकास का रहस्यमय वर्णन किया गया है। काव्यपुरूष के यात्रा प्रसग से उन्होने भारत के उन चार भागो के वेष–विलास और वचन–विन्यासो का दिग्दर्शन करा दिया है जिन्हे प्राचीन आचार्यो ने निर्धारित किया था।

चार देशो की काव्य रचना शैली तीन प्रकार की है, जिसे राजशेखर ने रीति कहा है। क्रमश पूर्व देश की काव्य रचना शैली का नाम गौडी है। पाञ्चाल की शैली का नाम 'पाञ्चाली और अवन्ति तथा विदर्भ की रचना शैली का नाम 'वैदर्भी' है। राजशेखर के अनुसार इन रीतियो द्वारा क्रमश काव्य रचना का विकास हुआ।

६. कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने अपने विषय मे कोई उल्लेख नही किया है। अत उनका काल निर्धारण एक समस्या का विषय बना हुआ है। उनके ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' मे उद्घृत कवियो एव आचार्यो के नामो से उनके समय की पूर्व सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा अन्य कवियो के ग्रन्थो से उद्घृत उदाहरणो से भी पूर्व सीमा का निर्धारण किया जा सकता है। कुन्तक की कालावधि की उत्तर सीमा का निर्धारण उनके परवर्ती ग्रन्थो मे उनके विषय मे किये गये उल्लेखो से किया जा सकता है।

कुन्तक के काल की पूर्व सीमा

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ मे 'ध्वन्यालोक' की अधोलिखित कारिका उद्घृत की है–

ननु कैश्चित् प्रतीयमान वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्य–मित्युपपादितमिति–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[1]

साथ ही रसवदलकार के खण्डन के प्रसग मे उन्होने एक अन्य कारिका—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारों रसादिरिति मे मतिः।।[2]

उद्घृत कर उसकी वृत्ति मे उद्घृत 'क्षिप्तो हस्तावलग्न'[3] इत्यादि, तथा 'कि हास्येन न मे प्रयास्यसि'[4] आदि उदाहरणो को उद्घृत कर उनका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने अन्य कई स्थलो पर ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग से उदाहरणादिक प्रस्तुत किये है। उदाहरणार्थ— 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' के एक उदाहरण रूप मे उन्होने ध्वन्यालोक के मगलश्लोक— 'स्वेच्छाकेसरिण'[5] इत्यादि को उद्घृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ध्वन्यालोक के कारिकाश एव वृत्याश दोनो से पूर्णत परिचित थे। अत इसमे सशय नही रह जाता कि वे आनन्दवर्धन के परवर्ती थे।

२ आचार्य कुन्तक ने राजशेखर विरचित 'विद्धशालभञ्जिका आदि से भी उद्धरण दिया है, किन्तु नामोल्लेख पूर्वक— 'प्रकरणान्तर्गत स्मृत प्रकरणरूप' प्रकरण वक्रता का उदाहरण देते हुए 'बालरामायण' से उद्धरण प्रस्तुत किया है—

यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारो नटः

प्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमान.—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान यो जन-जने।

नमः श्रङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने।।

---

१ ध्वन्यालोक – १/४, उद्घृत व जी पृ १२०

२ ध्वन्यालोक – २/५ उद्घृत व जी पृ ३१८

३ ध्वन्यालोक, पृ १६५–६ तथा व जी पृ ३१६

४ ध्वन्यालोक, पृ १६३ तथा व जी पृ ३२०

५ ध्वन्यालोक, पृ ४, उद्धृत व जी पृ ७८

इतना ही नही राजशेखर का एक विचित्रमार्गानुयायी कवि के रूप मे नाम्ना निर्देश भी किया है—

तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भित हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते। भवभूति राजशेखर विरचेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते।[1]

इस विषय मे कोई सशय नही किया जा सकता कि इन दोनो आचार्या मे राजशेखर ही परवर्ती थे। वे स्पष्ट रूप से आनन्द का नाम्ना निर्देश करते है—

'प्रतिभाव्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसीत्यानन्दः।

सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह-

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या सव्रियते कविः।

यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।।[2]

अत निश्चित रूप से कुन्तक के काल की पूर्वसीमा राजशेखर के काल के बाद निर्धारित होती है।

कुन्तक के काल की उत्तर-सीमा

आचार्य कुन्तक का नाम्ना निर्देश महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक', विद्याधर की 'एकावली', नरेन्द्रप्रभसूरि के 'अलकारमहोदधि' तथा सोमेश्वर[3] की 'काव्यप्रकाश टीका' मे किया गया है।

क काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।

---

१ वक्रोक्ति जीवित पृ १५५

२ काव्यमीमासा पृ ७५—७६

३ जैसा कि पी वी काणे ने अपने ग्रन्थ एच एस पी मे पृ २२६ एव उसी पृष्ठ पर वाद टिप्पणी सख्या—१ मे निर्देश किया है कि—सोमेश्वर (Folio 7a) सुकुमारेति यत्कुन्तक —
सन्ति तत्र त्रयो मार्गा कविप्रस्थानहेतव ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मक ।।

यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शिता मया।।[1]

ख एतेन यत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्।[2]

ग माधुर्य सुकुमाराभिधमोजो विचित्राभिध तदुभयमिश्रत्वसभव

मध्यम नाम मार्ग केऽपि बुधा कुन्तु (न्त) कादयोऽवदनुक्तन्वन्त। यदाहु

सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थान हेतवः।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।[3]

निश्चय ही इन ग्रन्थकारो मे प्राचीनतम् महिमभट्ट है, जिनको स्वीकार करने मे विद्वानो को कोई आपत्ति नही है और इसे भी स्वीकार करने मे विद्वानो मे दो मत नही है कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती थे।

डा कान्तिचन्द पाण्डेय ने अपने शोध–प्रबन्ध 'अभिनवगुप्त मे अभिनवगुप्त का साहित्यिक कृतित्वकाल ६६०–६६१ ई से १०१४–१५ ई तक निर्धारित कर उनका जन्मकाल ६५० और ६६० ई के बीच निर्धारित किया है। स्पष्ट रूप से उसके २५ या ३० वर्ष पूर्व भी कुन्तक का जन्मकाल मान लिया जाय तो उनका जन्मकाल लगभग ६२५ ई के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही इस काल का पौर्वापर्य राजशेखर के काल से भी पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। जैसा कि रचनाक्रम महामहोपाध्याय डा मिराशी ने निर्धारित किया है। उनके अनुसार 'बालरामायण' का रचनाकाल ६१० ई के आसपास ही पडेगा, क्योकि सबसे पहली रचना मिराशी जी ने बालरामायण को ही स्वीकार किया है। तदनन्तर बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालमञ्जिका और काव्यमीमासा का रचनाकाल स्वीकार किया है। सियाडोनी शिलालेख के अनुसार निश्चित रूप से 'महीपाल' नवी शताब्दी

---

१ व्यक्तिविवेक २/२६

२ एकावली, पृ ५१

३ अलकारमहोदधि पृ २०१–२०२

के उत्तरार्द्ध मे गद्दी पर बैठ गया होगा और इस तरह 'बाल भारत' का रचनाकाल ६१५ ई के आसपास मान लेने पर कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। इसके बाद यदि दो–दो वर्ष के व्यवधान से भी एक–एक ग्रन्थ का रचनाकाल निर्धारित किया जाय तो काव्यमीमासा का रचनाकाल ६२० ई के आस पास होगा और इस ढग से यदि कुन्तक का कृतित्व काल उनकी २५ वर्ष की अवस्था के बाद ६५० ई के बाद भी माना जाय तो ४०–५० वर्षो मे बालरामायणादि का अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नही। अत कुन्तक का कृतित्त्व काल दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ मानना ही उचित है।

आचार्य कुन्तक का काव्य–शास्त्र पर रचित ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है। इस ग्रन्थ मे चार उन्मेष है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ कुन्तक द्वारा विहित काव्य लक्षण की व्याख्या को प्रस्तुत करता है। वक्रोक्ति जीवित के प्रथम उन्मेष की सातवी कारिका मे अपने काव्य लक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत करते है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि।।[1]

अर्थात् सहृदयो को आह्लादित करने वाले, एव वक्रकवि व्यापार से सुशोभित होने वाले वाक्य विन्यास मे साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते है।

वस्तुत आचार्य कुन्तक सम्पूर्ण ग्रन्थ मे इसी काव्य लक्षण की व्याख्या प्रस्तुत करते है। काव्य मार्गो के बारे मे कुन्तक का विवेचन पूर्णत मौलिक है। उन्होने मार्गों को काव्यरचना का कारणभूत स्वीकार किया है। मार्गो का विवेचन करते हुए कुन्तक ने कई विप्रतिपत्तियॉ प्रस्तुत की है। उन्होने सर्वप्रथम गौड, वैदर्भ आदि देशो पर रखे गये गौडी, वैदर्भी आदि रीतियो तथा गौड या वैदर्भादि मार्गो का खण्डन किया है। उनका कहना है कि देशो के आधार पर रीतियो का त्रैविध्य स्थापित करना ठीक नही है। इस

१ व जी, कारिका ७

ऐतिहासिक सामग्री मे राजर्षि 'प्रियदर्शी' अशोक, महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जन मानस मे अति प्रसिद्ध राजा भोज ही हुआ है। महाराज विक्रमादित्य का यदि 'न्याय' प्रसिद्ध है तो महाराज अशोक का 'धर्म प्रचार' और महाराज भोजदेव की 'साहित्यिक गरिमा'। इस प्रकार भारतीय सस्कृति के व्यापक विजृम्भण मे भोजदेव सास्कृतिक विकास की पराकाष्ठा के प्रतीक है। उनके राज्यकाल मे सस्कृत–साहित्यिक चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है।''[1] यह उक्ति काफी अशो मे सत्य है।

भोज ऐतिहासिक महापुरूष थे। उनके तथा उनके विषय मे अन्य राजाओ के प्राप्त अभिलेखो, ग्रन्थो तथा विवरणो से प्राप्त सामग्री के आधार पर इनका समय निश्चित है और उसमे विशेष विवाद नही है। यह अवश्य है कि उनकी आविर्भाव तथा विरोधान की निश्चित तिथियॉ कही लिखी हुई नही मिलती। अत उनके विषय मे कुछ पौर्वापर्य सम्भावित है। अनेक अन्त तथा बहि साक्ष्यो के आधार पर उनका समय बहुत आगे पीछे नही खिसक पाता है। आज तक भोज के अनेक दान–पत्र उपलब्ध हो चुके है, जिनमे एक १०७६ तथा दूसरा १०७८ विक्रम सवत का है।

कल्हण की 'राजतरगिणी[2] तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश मे भोज का नाम मिलता है तथा इनके गुणो की प्रशस्ति है। 'वाजसनेयी सहिता' के टीकाकार 'उव्वट', 'तिलकमञ्जरी' के कर्ता 'धनपाल' तथा 'दशरूपक' आदि के रचयिता 'धनिक' आदि भोज के प्राय समकालीन ही थे।[3] नागौर से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, उसका समय वि स ११६१ है, उसमे इनके पूर्वजो से लेकर इनके समय तक का उल्लेख है। 'उदयपुर प्रशस्ति' मे भोज की प्रशसा है। इन ऐतिहासिक तथ्यो से इनका समय निश्चित करने मे सहायता मिलती है।

---

१ भारतीय वास्तुशास्त्र–पृ १

२ राजरगिणी ७/२५६

३ सरस्वतीकण्ठाभरणम्– भूमिका पृ ३

चालुक्य राज जयसिह तृतीय से १०११–१०२६ ई के मध्य इनकी लडाई हुई थी। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर (१०४२–१०६६ ई) से भी इनका युद्ध हुआ था।[१] प्रो एस के डे का मत इनके विषय मे अधिक पुष्ट प्रतीत होता है, जिसमे इन्होने इनका १०१०–१०५५ ई के मध्य का कहा है।[२] डॉ राघवन भोज के राज्याभिषेक का समय लगभग १०१० ई तथा मृत्यु १०६२ के बाद मानते है।[३]

इस प्रकार इतिहास चिन्हित व्यक्तित्त्व होने के कारण भोज के समय के विषय मे बहुत टटोलना नही पडता, तथापि विशिष्ट प्रमाण न मिलने के कारण उनके जन्म, राज्यारोहण, मरण आदि की निश्चित तिथिया नही दी जा सकतीं। आशा है–उत्खनन, नव सन्दर्भ प्रकाशन आदि से कुछ विशिष्ट सामग्री उपलब्ध होने से भविष्य मे अज्ञात पक्ष प्रकाशित हो सकेगे।

भोज बहुमुखी प्रतिभा के राजर्षि थे। उन्होने अनेक विषय के ग्रन्थो का प्रणयन किया। इनकी रचनाए अपने क्षेत्र मे अतीव महत्त्वपूर्ण रही। इसी से परवर्ती ग्रन्थकारो ने तत्तद्विषयो मे इनको उद्घृत किया है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे इनके दो ग्रन्थ है–

१ सरस्वतीकण्ठाभरण

२ श्रृगारप्रकाश

---

१ विक्रमाङ्कदेवचरितम्।। १८/९६।।

2 "All thıs, however, wıll ȷustıfy us ın fixıng Bhoȷa's date wıth great probabılıty between 1010 and 1055 A D ı e roughly coverıng a part of the first and whole the second quarter of the 11 century and he may have lıved ınto the thırd quarter of the same century The exact dates of hıs successıon and death are unknown, but ıt seems that he dıed after along ıllness, ın the mıdst of wars wıth Bhıma kıng of guȷarata & with Kalcurı Karma, kıng of Trıpurı"

—Sanskrıt Poetıcs, page 136

3 Bhoȷa mıght have assumed reıgns of Government about 1010 A D or somewhat later dıed sometıme after 1062 A D

- Srngara Prakash Page 5, Footnote No 1

भोज ने अपने ग्रन्थो मे रीतियो पर व्यापक दृष्टि डाली है। उन्होने रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा देते हुए कहा है–

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरूच्यते।।

अर्थात वैदर्भादि पथ काव्य मे मार्ग कहलाते है। रीङ्' एक गत्यर्थक धातु है और इस कारण इससे व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। भोज ने रीतियो की सख्या मे दो की और वृद्धि की है। ये रीतिया है– आवन्तिका और मागधी।

११. मम्मट

काव्यशास्त्र के आचार्यो मे मम्मट ने सबसे अधिक आदर व गौरव से पूर्ण पद को प्राप्त किया है। इस गौरव का कारण उनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। आचार्य भरत से लेकर अपने समय तक काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे जो भी सिद्धान्त स्थिर किये गये थे, उन सबका मम्मट ने गहन अध्ययन किया था। इस सारे साहित्य का मन्थन करके जो नवनीत सग्रह किया था, तथा उसका जो सारभूत पदार्थ था, वह 'काव्यप्रकाश' है।

प्राचीन परम्परा से चले आ रहे काव्य के लक्षण, प्रयोजन, शब्द–शक्ति, गुण, दोष, रस, अलकार की विवेचना तो उन्होने काव्यप्रकाश मे ही की थी। आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्थापित एव अभिनवगुप्त द्वारा पोषित ध्वनि के सिद्धान्त को भी उन्होने पुनर्जीवित किया था। तदनन्तर ध्वनि सिद्धान्त पर प्रबल प्रहार हुए थे। भट्टनायक, महिमभट्ट, आदि आचार्यो ने ध्वनि का खण्डन करने के लिए ही अपने ग्रन्थो की रचना की थी, परन्तु आचार्य मम्मट ने इन ध्वनि–विरोधी युक्तियो का दृढता और प्रबलता से खण्डन करके इस सिद्धान्त की पुन स्थापना की थी। इस कारण इनको 'ध्वनि प्रस्थान–परमाचार्य' भी कहा जाता है। ध्वनि के जिस रमणीय सिद्धान्त को मिटा डालने का सकल्प व्यक्तिविवेककार ने किया था, मम्मट ने उसकी युक्तियो का खण्डन किया।

मम्मट ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यो के तर्क सम्मत सिद्धान्तो के मधु का सञ्चय करके उसको 'काव्यप्रकाश' मे सजो दिया है। पूर्ववर्ती आचार्यो की त्रुटियो और कमियो को दूर करके उन्होने एक सर्वागपूर्ण सारगर्भित तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ की इस प्रकार रचना की कि अकेले इस ग्रन्थ के अध्ययन से सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ज्ञान हो सकता है। इसीलिए समालोचको ने 'काव्यप्रकाश' को काव्यशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है और आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार की उपाधि से विभूषित किया है।

यद्यपि आचार्य मम्मट ने अपने जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा है, तथापि नाम से ही इनका कश्मीर निवासी होना सिद्ध होता है। 'काव्यप्रकाश' की 'सुधासागर टीका' के रचयिता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के सम्बन्ध मे कुछ श्लोक दिये है।[1] इनके अनुसार मम्मट ने काश्मीर मे जन्म लिया था और वे सरस्वती देवी का अवतार समझे जाते थे। इनके पिता का नाम जैय्यट था। कैय्यट और उव्वट ये दो इनके छोटे भाई थे। कैय्यट ने महाभाष्य की और उव्वट ने वेदो की व्याख्याएँ लिखी थी। मम्मट ने काशी जाकर विद्या का अध्ययन किया था और 'काव्यप्रकाश' नामक 'काव्यशास्त्रीय' ग्रन्थ की रचना की थी।

---

१ **शब्दब्रह्मसनातन न विदित शास्त्रै क्वचित् केनचित–**
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीर देशे पुमान्।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुज ,
श्री मन्मम्मट सञ्ज्ञयाश्रिततनु सारस्वतीं सूचयन्।।
मर्यादा किल पालयन् शिवपुरीं गत्त्वा प्रपठयादरात्,
शास्त्र सर्वजनोपकाररसिक साहित्यसूत्र व्यधात्।
तद्वृत्ति च विरच्य गूढमकरोत काव्यप्रकाश स्फुट,
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रद सेवनात्।।
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितु,
शक्त स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिण ।
श्रीमान् कैयट औव्वटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो,
भाष्याब्धि निगम यथाक्रममनुव्याख्यानसिद्धि गत ।।

—भमसेनकृत काव्यप्रकाश की 'कीर्तिसुधाकर' टीका की प्रस्तावना से।

भीमसेन के इस कथन मे दो आपत्तियॉ उठायी जाती है–

१ प्रथमत काव्यशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र मे काशी की अपेक्षा कश्मीर अधिक प्रसिद्ध था। अत काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिए कश्मीर को छोडकर मम्मट के काशी जाने की बात असगत प्रतीत होती है।

२ दूसरी आपत्ति यह है कि भमसेन ने उव्वट को मम्मट का छोटा भाई बताया है, जबकि वाजसनेयी सहिता के भाष्य मे उव्वट ने अपने को आनन्दपुर का निवासी और वज्रट का पुत्र बताया है और लिखा है कि सहिता का भाष्य उन्होने राजा भोज के राज्यकाल मे किया था।

इसके विपरीत मम्मट के पिता का नाम जैयट था और वे भोज के पश्चात हुए थे। कैय्यट ने अवश्य ही अपने को जैयट का पुत्र लिखा। भीमसेन ने अपनी टीका १७२३ ई मे मम्मट के लगभग ६०० वर्ष पश्चात लिखी थी। अत उनके लिखने मे भ्रान्ति रह सकती है। काश्मीरी पण्डितो की परम्परा के अनुसार मम्मट "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य के रचयिता श्री हर्ष के मामा थे, परन्तु यह प्रसिद्धि भी असगत प्रतीत होती है। श्रीहर्ष यदि कश्मीरी थे तो उनको कश्मीर जाकर अपने ग्रन्थ को प्रमाणित कराने की क्या आवश्यकता थी ? पुन उनका समय भी मम्मट के बाद का है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे अभिनवगुप्त का उल्लेख है, जो कि १०५५ ई तक जीवित थे। पद्मगुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' (१००५ ई के लगभग मे लिखा गया) के उद्धरण काव्य प्रकाश मे है। भोज के दान की मम्मट ने प्रशसा की है।[1] भोज का राज्यकाल १०५५ ई तक रहा था, अत मम्मट ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चात हुए होगे।

'काव्यप्रकाश' की सबसे पहली टीका 'माणिक्यचन्द्र' की सकेत टीका है। यह ११६० ई मे लिखी गयी थी। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' (११४३ ई)

---

१ काव्य प्रकाश– दशम उल्लास–उदात्त अलकार का उदाहरण

मे आचार्य मम्मट का उल्लेख किया है और रूय्यक ने 'अलकार सर्वस्व' (११३५ ई) मे मम्मट के मत का खण्डन किया है। इसलिए मम्मट इनसे पहले हुए होगे। इन आधारो पर मम्मट का समय १०५०—११०० ई के मध्य निश्चित किया जा सकता है।

मम्मट का 'काव्य प्रकाश काव्यशास्त्र का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र के नियमो को समझाने के लिए मम्मट ने इस ग्रन्थ मे कुल १४२ कारिकाओ की रचना की है, जो कि दस उल्लासो मे विभक्त है। कारिकाओ के साथ उनकी वृत्ति भी दी गयी है। नियमो को समझाने के लिए मम्मट ने ६०३ उदाहरण विभिन्न काव्यो से सग्रह करके दिये है। आचार्य मम्मट के नाम से एक अन्य ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' भी प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस से हुआ था। इसमे अभिधा और लक्षणा का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस प्रकार से मम्मटाचार्य के कुल दो ग्रन्थो की जानकारी अब तक उपलब्ध होती है।

काव्यमार्ग या रीतियो के सम्बन्ध मे आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश के नवम उल्लास मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। इसमे अनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका, परूषा और कोमला वृत्तियो का तथा वैदर्भी आदि रीतियो का कथन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास मे ध्वनिमार्ग का समर्थन करते हुए मम्मट ने ध्वनि को रस ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलकार ध्वनि मे विभाजित किया है।

१२. रुय्यक

रूय्यक ने आचार्य भरत और भामह से लेकर मम्मट तक जितने भी आचार्य हुए थे, उनके अलकार प्रतिपादन मे होने वाली कमियो का अनुभव करके, उनका परिहार किया था। रूय्यक के समय तक ११८ अलकारो की उद्भावना हो चुकी थी। रूय्यक ने इनमे से ७५ अलकारो को स्वीकार किया तथा ७ अलकारो की स्वय उद्भावना की। इस प्रकार रूय्यक ने ८२ अलकारो का विवेचन किया।

उत्तरवर्ती आलकारिको ने जो समीक्षाएँ की थी, रूय्यक उनके लिए प्रेरणा के स्रोत रहे थे। रूय्यक के अनन्तर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पाण्डेय तक जितने भी काव्यशास्त्र के आचार्य हुए, उन्होने रूय्यक से प्रेरणा तथा मार्ग निर्देशन लेकर अपनी अलकारो की विवेचना प्रस्तुत की थी। इस प्रकार अलकारो के चिन्तन एव विवेचन मे रूय्यक मेरूदण्ड के सदृश रहे। इनके अनुशीलन के बिना अलकारो का अध्ययन पूर्ण नही माना जा सकता।

रूय्यक ने अपनी कृतियो मे अपने जीवन का परिचय नही दिया। रूय्यक के अपने ग्रन्थो से तथा अन्य साहित्य से उनके विषय मे स्वल्प ही तथ्य उपलब्ध होते है। रूय्यक के नाम से तथा उनके अन्य सम्बन्धो से यह विदित होता है कि वे कश्मीर के निवासी थे। रूय्यक ने 'काव्य–प्रकाश' की 'सकेत टीका' लिखी थी, अत वे निश्चित रूप से मम्मट (११०० ई) के उत्तरवर्ती काल मे हुए थे। रूय्यक ने 'व्यक्तिविवेक' (१०५० ई) की टीका भी लिखी थी। इन्होने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' (१०८५ ई) के कुछ पद्यो को 'अलकारसर्वस्व' मे उद्धृत किया है। अत इनका समय महिमभट्ट, विल्हण और मम्मट के बाद का है।

'श्रीकण्ठचरित' के रचयिता मखक के अनुसार रूय्यक उनके गुरू थे, परन्तु 'श्रीकण्ठचरित' के कुछ श्लोक 'अलकार सर्वस्व' मे उदाहरण के रूप मे उद्घृत भी है। इससे प्रतीत होता है कि रूय्यक और मखक समकालीन भी रहे होगे। मखक काश्मीर नरेश जयसिह के सन्धि विग्रहिक के पद पर रहे थे और जयसिह का राज्यकाल ११२८–११४८ ई रहा था। अत रूय्यक और इनके शिष्य मखक, दोनो का समय १२वी शताब्दी का मध्यभाग समझा जा सकता है।

रूय्यक का दूसरा नाम रूचक भी था। रूचक सस्कृत भाषा का शब्द है और रूय्यक स्थानीय भाषा का शब्द है। 'सह्रदयलीला' के अनुसार इनका एक नाम रूय्यक था और दूसरा नाम रूचक था। परवर्ती ग्रन्थकारो

ने इनके रूचक नाम का अधिक प्रयोग किया है। रूय्यक के पिता का नाम तिलक था। यह 'सहृदयलीला' के उपसहार से विदित होता है। तिलक इनके गुरू भी थे। रूय्यक द्वारा लिखित काव्य–प्रकाश की सकेत टीका के मगल श्लोक से भी यह विदित होता है कि इनके पिता ही इनके गुरू थे। तिलक ने उद्‌भट के 'अलकार सार सग्रह नामक ग्रन्थ पर विवरण नाम अकी टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख जयरथ ने अनेक बार किया है। रूय्यक के पिता तिलक और स्वय रूय्यक को अपनी विद्वता के कारण राजानक उपाधि प्राप्त हुई थी।

राजानक रूय्यक की रचनाएँ

अलकारसर्वस्व' रूय्यक की सबसे प्रसिद्ध रचना है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होने अन्य भी बहुत से ग्रन्थो की रचना की थी, जो कि अधोवत् है–

१ अलकारसर्वस्व

२ काव्यप्रकाश सकेत

३ सहृदयलीला

४ नाटक मीमासा

५ व्यक्तिविवेकविचार

६ हर्षचरितवार्तिक

७ साहित्यमीमासा

८ श्रीकण्ठस्तव

६ अलकारनुसारिणी

१० अलकारमञ्जरी

११ अलकारवार्तिक

इनमे से पाच ग्रन्थ उपलब्ध है तथा प्रकाशित हो चुके है– अलकार सर्वस्व, काव्यप्रकाश सकेत, सहृदयश्लीला व्यक्तिविवेक विचार, और साहित्यमीमासा– इन ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा।

१. काव्यप्रकाश संकेत

यह ग्रन्थ मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्य प्रकाश की टीका है।

२. व्यक्तिविवेक विचार

यह ग्रन्थ महिमभट्टट के व्यक्तिविवेक पर लिखा गया था। इसका नाम 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' भी प्रसिद्ध है।

३. सहृदयलीला

यह चार उल्लेखो मे विभक्त एक छोटी सी पुस्तक है।

४. साहित्य मीमांसा

यह एक विशाल ग्रन्थ है। यह ८ प्रकरणो मे विभक्त है। इसका विषय विवेचन निम्नवत् है।

५. अलंकारसर्वस्व

यह रूय्यक की सबसे प्रौढ कृति है। इसने रूय्यक को काव्यशास्त्रकारो के मध्य अविनश्वर कीर्ति प्रदान की है। इस पर मम्मट के अलकार प्रकरण का प्रभाव पडा है। इसमे १८ सूत्र है।

मम्मट के समान ही रूय्यक ध्वनिवादी आचार्य थे और इन्होने इसी दृष्टिकोण से अपने ग्रन्थ की रचना की है। अलकार सर्वस्व मे इन्होने ध वनिकार के मत को पुष्ट किया है।

१३. विश्वनाथ कविराज

विश्वनाथ के ग्रन्थो मे प्राप्त उनके आत्म परिचय से विदित होता है कि वे उत्कल के किसी प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। विश्वनाथ के प्रपितामह का नाम नारायण था। काव्यप्रकाश की टीका मे विश्वनाथ ने नारायण को अपना पितामह कहा है। यदाहु श्रीकलिगभूमण्डलाखण्डल महाराजाधिराजश्रीनरसिह देवसभाया, धर्मदत्त स्थगयन्त .. अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणपादा। प्रतीत यह होता है कि नारायण वस्तुत उनके प्रपितामह रहे होगे, परन्तु सक्षेप मे उनके पितामह

कह दिया गया होगा। विश्वनाथ के पिता का नाम चन्द्रशेखर था। साहित्यदर्पण के अन्त मे इनका उल्लेख किया गया है।[1]

विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर भी उत्तम कवि और विद्वान थे। उनके दो ग्रन्थो 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे किया है। अपने पिता के अन्य श्लोको को भी विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' मे उद्धृत किया है।[2] प्रसिद्ध विद्वान चण्डीदास जिन्होने कि 'काव्यप्रकाश' की दीपिका टीका की रचना की थी, विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। इनका उल्लेख भी 'साहित्यदर्पण' मे हुआ है।

विश्वनाथ सम्भवत उडीसा के निवासी थे, क्योकि इन्होने 'काव्यप्रकाश' की टीका मे सस्कृत शब्दो के अनेक उडिया पर्यायवाची शब्द दिये है तथा उनकी व्याख्या की है।[3] विश्वनाथ और उनके पिता दोनो ही किसी राजा के सन्धि विग्रहिक के प्रतिष्ठित पद के अधिकारी रहे होगे, क्योकि दोनो के नाम इस पद से विभूषित मिलते है। सम्भवत यह राजा कलिग देश का अधिपति रहा था।

'साहित्यदर्पण' के पदो से यह विदित होता है कि विश्वनाथ वैष्णव मत के अनुयायी थे। इस मत के प्रति उनकी आस्था के प्रमाण 'साहित्यदर्पण' के प्रथम परिच्छेद मे काव्य के प्रयोजन की व्याख्या[4] तथा ग्रन्थ के अन्तिम मगलश्लोक मे मिलते है।[5]

---

१ **श्रीचन्द्रशेखर महाकविचन्द्रसून**
श्रीविश्वनाथकविराजकृत प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममु सुधियो विलोक्य,
साहित्यतत्त्वमाखिल सुखमेव वित्त।। साहित्यदर्पण, १०–६६

२ साहित्यदर्पण, ३, ५८, ३८२, ३२१३, ३२०७ के उदाहरणो मे।

३ वैपरीत्ये रूचि कुर्वितिपाठ ।"
अत्र चिड्कपद काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्,
उत्कलादिभाषाया धृतकाण्डकद्रव" इति। –काव्यप्रकाश की भूमिका,पृ २५ से उद्धृत

४ किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना स्वर्गे लोके काम धुग्भवति।
– साहित्य दर्पण १२ वृत्ति,

५ यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याड्कमलकरोति।
तावन्मन सम्मदयन् कवीनामेष प्रबन्ध प्रथितोऽस्तु लोके। – साहित्य दर्पण, १० १००

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ को अपने जीवनकाल मे प्रचुर यश और सम्मान प्राप्त हुआ होगा। 'साहित्यदर्पण मे इन्होने अपने निम्न विरूदो का उल्लेख किया है—

१ नारायणचरणारविन्दमधुव्रत।

२ साहित्यार्णवकर्णधार।

३ ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य।

४ कविसूक्तिरत्नाकर।

५ अष्टाभाषावारविलासिनी भुजग।

६ आलकारिकचक्रवर्ती।

७ सान्धिविग्रहिक।

८ महापात्र।

विश्वनाथ के समय के निर्धारण मे अधिक कठिनाई नही है। अनेक तथ्य ऐसे मिलते है, जिनके आधार पर उनके समय को निर्धारित किया जा सकता है। वे इस प्रकार है—

१ विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण मे अलाउद्दीन नामक मुसलमान राजा का उल्लेख किया है, जो कि सन्धि करने पर सर्वस्व का और युद्ध करने पर प्राणो का हरण कर लेता था।[1] यह अलाउद्दीन नाम का सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ही था। इसका शासन काल १२९६—१३१६ ई रहा था। इसने अनेक विजये प्राप्त की थी तथा हिन्दू राजाओ को पराजित किया था। इस सुल्तान के अत्याचारो का उल्लेख विश्वनाथ ने क्रियोत्प्रेक्षा के उदाहरण मे किया है।[2] जबकि सुलतान के लिए वह 'सुरत्राण' पद का प्रयोग करता है। विश्वनाथ ने इन श्लोको की रचना या तो अलाउद्दीन खिलजी के जीवनकाल मे की होगी, या उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद। अत विश्वनाथ का समय १३०० ई के पश्चात होना चाहिए।

---

१ **सन्धौ सर्वस्वहरण विग्रहे प्राणनिग्रह ।**
अल्लावद्दीन नृपतौ न सन्धि न च विग्रह ।। – साहित्यदर्पण, १०४२ का उदाहरण

२ **गंगाम्भसि सुरत्राण तव नि शाननि स्वन ।**
स्नातावारिवधूवर्गगर्भपातन पातकी।। – साहित्यदर्पण, १०४२ का उदाहरण

२ साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जम्मू से प्राप्त हुई है जो कि १३४८ ई मे प्रतिलिपि की गयी थी। अत विश्वनाथ १३४८ ई के पहले ही हुए होगे।

इन दोनो प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि विश्वनाथ का समय १३०० ई० और १३४८ ई के मध्यवर्ती होना चाहिए। इन सुनिश्चित प्रमाणो के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी विश्वनाथ के समय को निर्धारित करने मे सहायक है। इनसे भी उनका यही समय प्रतिपादित होता है वे इस प्रकार है—

१ विश्वनाथ ने निश्चय अलकार के उदाहरण के रूप मे 'गीतगोविन्द' से एक पद्य उद्धृत किया है।[1] गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का समय १२वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। वे अनेक अन्य कवियो गोवर्धन आदि के साथ बगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा मे थे, जिनका एक शिलालेख ११२६ ई का मिला है। अत विश्वनाथ जयदेव के बाद के हुए।

२ विश्वनाथ ने श्रीहर्ष के नैषधीय चरित से एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] श्रीहर्ष का समय १२वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

३ विश्वनाथ ने जयदेव के 'अनर्घराघव' से एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] जयदेव का समय १२००—१२५० ई है।

४ विश्वनाथ ने रूय्यक के 'अलकार सर्वस्व' का बहुत कुछ अनुकरण किया है तथा उससे अक्षरश उदाहरण प्रस्तुत किये

---

१ **हृदि किसलताहार नाय भुजगमनायक ।।**
साहित्यदर्पण १० ३६ का उदाहरण

२ **धन्यासि वैदर्भि गुणैरूदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।**
इत स्तुति का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।
—साहित्यदर्पण १० ५० का उदाहरण

३ **कदली-कदली, करभ -करभ. करिराजकर - करिराजकर ।**
भुवनत्रयेऽपि विभर्ति तुलामिदमूरूयुँग न चमूरूदृश.।।
—साहित्यदर्पण, ४ ३ का उदाहरण)

है। रूय्यक का समय १२वी शताब्दी का मध्यभाग समझा जाता है। अत विश्वनाथ का समय १३वी शताब्दी के मध्यभाग के पश्चात का होना चाहिए।

५ 'काव्यप्रकाश' की दीपिका टीका के रचयिता विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। यह टीका १२५० ई के लगभग लिखी गयी थी। अत विश्वनाथ का समय १३०० ई के पश्चात् का माना जा सकता है।

६ कलिग नरेश नरसिह की राजसभा मे विश्वनाथ ने अपने पितामह नारायण और धर्मदत्त के शास्त्रार्थ का सकेत किया है। धर्मदत्त का उल्लेख विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे-

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।।

तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।[1]

राजा नरसिह का समय १२०३—१३०३ ई के मध्य माना जाता है। अत विश्वनाथ के समय की चरम सीमा निम्नलिखित प्रकार से निश्चित की जा सकती है—

१ मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'प्रतापरूद्रयशोभूषण' की रत्नायण टीका मे विश्वनाथ को उद्घृत किया था। कुमार स्वामी का समय १५वी शताब्दी है।

२ 'काव्यप्रकाश' की प्रदीप टीका के लेखक गोविन्द ठक्कर ने 'साहित्य दर्पण' की विचारधारा का उल्लेख किया है। उसने नाम का उल्लेख किये बिना ही मम्मटकृत काव्यलक्षण के

---

१ साहित्य दर्पण, ३.३ की वृत्ति

विश्वनाथ द्वारा खण्डित किये जाने का वर्णन करके विश्वनाथ के काव्य लक्षण की आलोचना की है। गोविन्द ठक्कर का समय १५वी शताब्दी है।

इन आधारो पर विश्वनाथ का समय १५वी शताब्दी के पहले का सिद्ध होता है। ऊपर कहे गये सभी प्रमाणो का सक्षेप करके विश्वनाथ के समय को १३०० ई से १३८४ ई तक सीमित करना तर्कसगत है।

रचनाएँ

विश्वनाथ केवल काव्यशास्त्र के आचार्य ही नही थे, अपितु सरस कवि भी थे। उन्होने अनेक काव्यो की रचना भी की थी। उनकी कविताओ का उनके समालोचना साहित्य से कम महत्व नही है, परन्तु इस समय उनका कोई काव्य उपलब्ध नही है। उन्होने प्रभूत मात्रा मे साहित्य का सृजन किया था। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'साहित्यदर्पण' है। साहित्यशास्त्र पर लिखा गया यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय है। साहित्यशास्त्र विषय पर इस ग्रन्थ के अतिरिक्त विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाश' पर 'काव्यप्रकाश दर्पण नाम से टीका लिखी थी। उनके द्वारा रचित निम्न काव्यो तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का परिचय मिलता है–

१ राघवविलास महाकाव्य
२ कुवलयाश्वचरित
३ प्रभावती परिणय
४ चन्द्रकला
५ प्रशस्तिरत्नावली
६ काव्यप्रकाशदर्पण
७ नरसिह विजय
८ साहित्य दर्पण

विश्वनाथ का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे इसने अन्यतम लोकप्रियता अधिगत की है। 'साहित्यदर्पण' १० परिच्छेदो मे विभक्त है तथा उसकी विषय वस्तु इस प्रकार है–

१. प्रथम परिच्छेद में मंगलाचरण के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन बताये हैं। तदनन्तर मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे गये काव्य के लक्षण का खण्डन करके विश्वनाथ ने स्वकीय काव्य के लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का प्रतिपादन किया है। अन्त में दोष, गुण, अलंकार और रीति का वाक्य के साथ सम्बन्ध बताया है।

२. द्वितीय परिच्छेद में शब्द, अर्थ, और शब्दशक्तियों का विवेचन किया गया है। अन्त में तात्पर्या वृत्ति और तात्पर्यार्थ का निरूपण है।

३. तृतीय परिच्छेद का मुख्य विषय रस का प्रतिपादन करना है।

४. चतुर्थ परिच्छेद में काव्य के भेदों–ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य के स्वरूप तथा भेदों की विस्तृत विवेचना की है। इन्होंने मम्मट प्रोक्त काव्य के तीसरे भेद चित्र में काव्यत्व का खण्डन किया है।

५. पञ्चम परिच्छेद में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की गयी है।

६. षष्ठ परिच्छेद में काव्य के अन्य निमित्तक भेद हैं। रूपकों के दस भेदों और उपरूपकों को कहकर नाटकीय तत्वों की विशद विवेचना की गयी है। तदनन्तर श्रव्य काव्य के विविध भेदों का विशद वर्णन है।

७. सप्तम परिच्छेद में दोषों का विशद वर्णन है। अन्त में अलंकारगत दोषों का विस्तार से विवेचन है। दोषों के स्वरूप वर्णन में विश्वनाथ ने बहुत कुछ मम्मट का अनुकरण किया है।

८. अष्टम परिच्छेद में गुणों का निरूपण है।

६. नवम परिच्छेद में रीतियों का वर्णन है। इसमें चार प्रकार की रीतियों–वैदर्भी, गौडी, लाटी और पाञ्चाली बताई गयी है।

१० दशम परिच्छेद मे अलकारो का विवेचन है। विश्वनाथ ने ७५ अलंकारो के स्वरूप भेद तथा उदाहरण उनके मिश्रण ससृष्टि तथा सकर को समझाया है।

१४. पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरूभट्ट अथवा पेरमभट्ट था। इनकी जननी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी। इनके पिता पेरूभट्ट अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होने ज्ञानेन्द्रभिक्षु नामक किसी सन्यासी से वेदान्तशास्त्र का महेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का खण्डदेवोपाध्याय से पूर्व मीमासा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था। इतना ही नही, इन शास्त्रो से भिन्न वेदादि शास्त्रो मे भी वे परम प्रवीण थे।

पण्डितराज ने सर्वविधाविशारद अपने पिता से ही सब विषयो का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरू शेषवीरेश्वर से भी सम्भवत कुछ पढा था, ऐसा माना जाता है, क्योकि 'मनोरमा कुचमर्दन' नामक ग्रन्थ मे पण्डितराज ने अपने गुरू के रूप मे उनका स्मरण किया है। पण्डितराज स्वय भी सब शास्त्रो के प्रकाण्ड पण्डित थे। विशेषकर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। इस बात की पुष्टि रस–गगाधर मे स्थान–स्थान पर व्यक्त किये गये विचारो से होती है। अत इसकी पुष्टि के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानो मे सर्वाधिक भाग्यशाली समझे जा सकते है, क्योकि वे युवावस्था मे ही अपनी विमल विद्या के प्रभाव से तत्कालीन शहशाह के कृपापात्र बन गये और उन्हीं से पण्डितराज की उपाधि प्राप्त कर उन्ही के आश्रय मे अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक बिताया।[1] शाहजहॉ तनय दाराशिकोह का वर्णन पण्डितराज ने अपने जगदाभरण' नामक निबन्ध मे किया है। अत दाराशिकोह की छत्र–छाया मे भी इनके जीवन का कुछ अश व्यतीत हुआ था, ऐसा लोगो का अनुमान है।

१ 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीत नवीन वय' भामिनी विलास ४/४५

यह निश्चित है कि पण्डितराज शाहजहॉ के दरबार मे बहुत दिनो तक रहे और शाहजहॉ के विषय मे इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई मे उसका राज्याभिषेक हुआ था। १६५८ ई मे अपने पुत्र औरगजेब द्वारा वह कैद कर लिया गया था तथा १६६६ ई मे मर गया था। अत यह निश्चित होता है कि पण्डितराज जगन्नाथ का भी स्थितिकाल भी वही है। हॉ यह सम्भव है कि शाहजहॉ के मरने के बाद भी पण्डितराज अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हो।

एक किवदन्ती है कि युवावस्था मे कही पर आश्रय पाने की इच्छा से जब वे जयपुर से दिल्ली आये तो उनकी विमल विद्या से प्रभावित होकर तत्कालीन दिल्ली नरेश शाहजहॉ ने अपने दरबार मे उन्हे आश्रय दिया और वही पर उनकी विद्वता से प्रसन्न होकर राजा ने उन्हे 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया। प्रौढावस्था तक ये वही शाहजहॉ और उनके बेटे दाराशिकोह की छत्रछाया मे रहे। तत्पश्चात् अपने जीवन का शेषाश मथुरा और काशी मे रहकर ईश्वरोपासना मे व्यतीत किया। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर सभी विद्वानो के अनुसार इनका जीवनकाल १७वी शताब्दी का मध्य स्वीकार किया गया है।

पण्डितराज अनेक ग्रन्थो के प्रणेता थे। उनकी रचनाओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ **करूणालहरी :** इसमे भगवान विष्णु की स्तुति की गयी है।

२. **चित्रमीमासा खण्डनम्** · इसमे अप्पयदीक्षित के चित्रमीमासा नामक ग्रन्थ के कुछ अशो का खण्डन प्राप्त है।

३. **जगदाभरणम् :** इसमे शाहजहॉ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशस्ति है।

४. **पीयूषलहरी :** यही पुस्तक गगालहरी के नाम से भी विख्यात है एव पण्डितराज की लोकप्रिय कृति है। इसमे गगा नदी की स्तुति की गयी है।

५. प्राणाभरणम् : इसमे कामरूप देश के अधिपति श्री प्राणनारायण का वर्णन है। इसकी टिप्पणी भी स्वय पण्डितराज ने लिखी है।

६. आसफविलास : इसमे नवाब आसफ खान का वर्णन रहा होगा, ऐसा इसके नाम से अनुमान लगाया जाता है। ग्रन्थ रूप मे यह आज भी उपलब्ध नही है। रस गगाधर मे इसका उल्लेख दो पद्यो मे हुआ है। अत इस नाम की कोई कृति रही होगी ऐसी कल्पना की जाती है

७. अमृतलहरी : इसमे यमुना नदी की स्तुति है।

८. भामिनीविलास : इसमे पण्डितराज के द्वारा रचित पद्यो का सग्रह है।

६. मनोरमाकुचमर्दनम् : भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रणीत 'मनोरमा' नामक व्याकरण ग्रन्थ का खण्डन ही है – 'मनोरमाकुचमर्दनम्'

१०. यमुनावर्णनम् : यह भी पण्डितराज के अनुपलब्ध ग्रन्थो मे से एक है, जिसके अस्तित्त्व का प्रमाण रसगगाधर मे उदाहृत कुछ अशो के रूप मे मिलता है।

११. लक्ष्मीलहरी

१२. सुधालहरी

१३. रसगंगाधर : यह पण्डितराज की सभी कृतियो मे मुख्य मुख्यकृति है। रसगगाधर काव्यतत्त्व विषयक नैय्यायिक भाषा–शैली मे लिखा हुआ एक विशाल ग्रन्थ है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना गद्य मे की गयी है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के ही समान उपनागरिका आदि वृत्तियो एव वैदर्भी आदि रीतियो मे अभेद माना था, परन्तु उन्होने अन्य रीतियो की विवेचना न करके केवल वैदर्भी का ही वर्णन किया है। उसकी रचना मे कवि को सावधान रहने के लिए कहा है।[१]

१ अस्याश्च निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्, अन्यथा तु परिपाक भङ्ग स्यात्।
–रसगगाधर पृ ११७

तृतीयोन्मेष
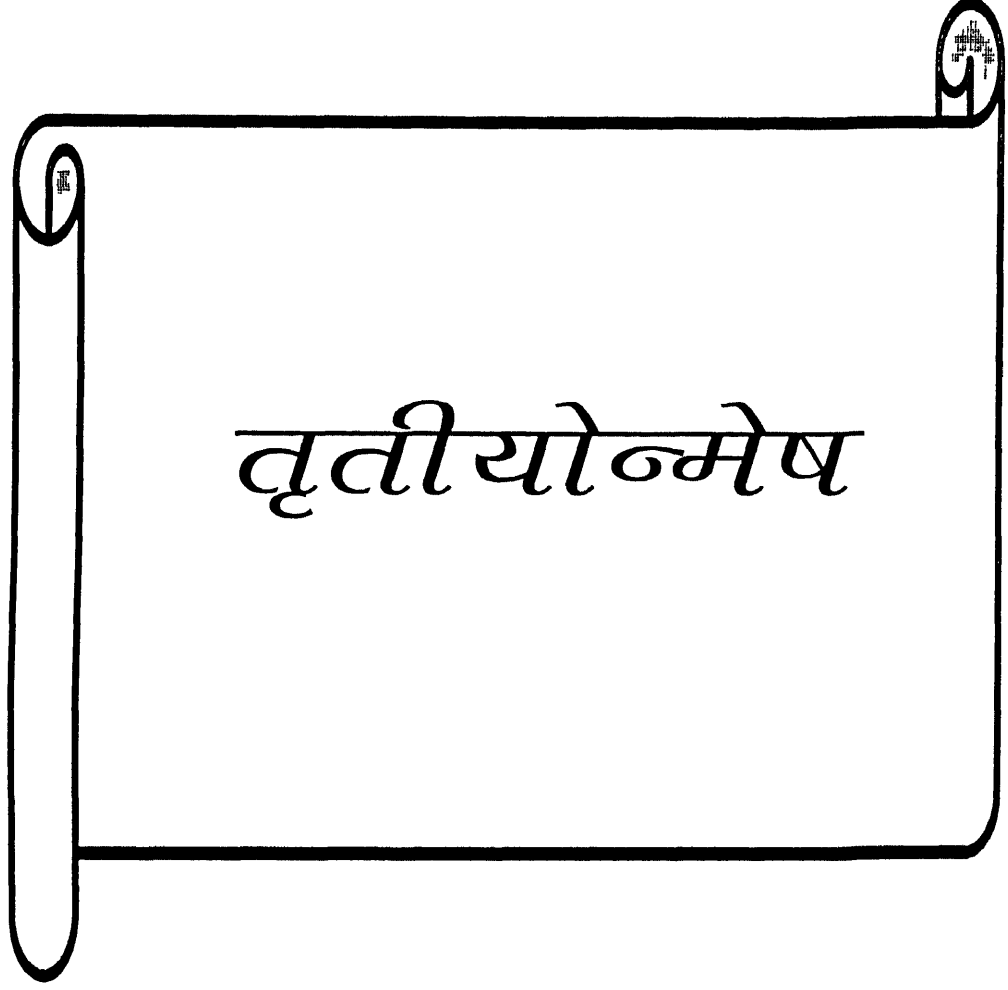
काव्यमार्ग–स्वरूप विवेचन

काव्य के सिद्धान्तो का शास्त्रीय निरूपण जब प्रौढता की ओर अग्रसर हुआ और साहित्य विद्या को आन्वीक्षकी (आत्म विद्या), त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति के बाद पाचवी विद्या स्वीकार किया गया, तब से पूर्व से प्रचलित काव्य–गोष्ठियो का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया और इसका महत्त्व केवल भावको द्वारा कवि के दोष, गुण का अन्य सभा–गोष्ठियो मे प्रचार–प्रसार मात्र रह गया। अब राजाओ द्वारा ही विशाल काव्य सभाओ का आयोजन होने लगा था, जिनमे काव्य के विभिन्न तत्त्वो–रस अलकार, गुण, समास आदि के विषय मे पर्याप्त विवेचन किया गया। शनै–शनै इन तत्त्वो के आधार पर सम्प्रदाय बनने लगे। फलत रस, अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, व औचित्य आदि मुख्यत छ सम्प्रदाय बने, किन्तु प्राय सभी आचार्यो ने 'काव्य–मार्ग' या रीतियो के सम्बन्ध मे अपने–अपने विचार व्यक्त किये।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे मार्ग, रीति, पन्था, प्रस्थान, सघटना, गति तथा पद्धति आदि शब्द प्राय समानार्थक रूप मे ही प्रयुक्त पाये जाते है। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति–

'रियन्ते परम्परया गच्छन्ति अनया इति रीतिः।'

'रीङ् गतौ' अथवा 'रीङ्स्रवणे' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करके वैदर्भ आदि मार्ग या वैदर्भी आदि रीति के अर्थ मे ही की जाती है।[1] रीति के अर्थ पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि रीति शब्द 'रीङ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बनता है, अत रीति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है– 'मार्ग'। पथा, वीथि, गति, प्रस्थान–सब रीति के पर्यायवाची है। रीति किसी लेखक के विशिष्ट लेखन प्रकार को सूचित करती है।

---

१ सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियॉ पृ २६

वस्तुत कवि अपने मनोभावो की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के नवीन तथा विचित्र मार्गों का अनुसरण करते है। इसलिए 'रीति' शब्द इसी अभिव्यक्ति वैभिन्य की द्योतक है। आचार्य वामन के पूर्व रीति के स्थान पर अधिकतर मार्ग शब्द काप्रयोग ही किया जाता था।[१]

क्षरणार्थक दिवादि धातु 'री' से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर रीति शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ 'प्रवाह लिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व मे प्रवाह पर विचार व्यक्त किया जाता है उसे रीति कहते है। कही—कही इस रीति को 'स्टाइल' (Style) का पर्याय माना गया है।[२] इस प्रकार एक प्रश्न उठता है कि 'स्टाइल' और 'रीति' को एक रूप कैसे मान सकते है ? इस प्रश्न के उत्तर के रूप मे हम कह सकते है कि जब कभी कोई लेखक सामान्य, साधारण, शब्द हेतु असाधारण शब्द को प्रयोग मे लाता है अर्थात् उसको सरल रूप मे नही बल्कि उसे विशिष्टता प्रदान करके लिखता है, उसे एक नये रूप मे प्रस्तुत करता है और ठीक उसको दूसरे अन्य विद्वान् किसी विशिष्ट अर्थ के लिए सामान्य शब्द का प्रतिपादन करता है तो लेखक के इसी विशिष्ट शेली लेखन को, इसी वैशिष्ट्य को हम शैली या रीति के नाम से पुकारते है। यही शैली या रीति ही 'स्टाइल' है, कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द को अलग—अलग नामो के द्वारा पुकारा गया है। आगे चलकर धीरे—धीरे इस रीति का पतन होने लगा और इस रीति के पतन का मुख्य कारण था उसमे रस तथा अलकारो का पूर्णतया समाहित न होना।

काव्यशास्त्र मे 'रीति' शब्द का प्रयोग कवि के विशिष्ट रचना प्रकार के लिए किया जाता है। इसके लिए वामन ने 'रीति' शब्द से विवेचन किया ता पूर्ववर्ती आचार्यो ने 'मार्ग' का प्रयोग किया है। कोई इसे सघटना रूप

---

१ काव्यशास्त्र का मार्ग दर्शन, पृ ६४

२ Ritı ıs a characterıstıc way of a wrıter, the other word used as synonymous are Gati, Marga, Prasthana, Pantha All these words mean style A poet of mark a style of possess a dıstınct style ıs to be a poet of mark

— Dr Raghvana some concepts of Alankar Shastra, P-172

मानता है तो कोई वृत्तियो से अभिन्न। यद्यपि रीतियो का सक्षिप्त विवेचन भामह और दण्डी ने मार्ग नाम से किया है और दण्डी का विवेचन अत्यन्त व्यापक एव व्यवस्थित भी है, किन्तु न उन्होने उसकी परिभाषा दी है और न ही महत्त्व का उद्घाटन किया है। भोज ने 'रीति' को मार्ग और पन्था का पर्यायवाची बतलाया है।

कथ्य के लिए विशेष ढग से पदो का प्रयोग 'रीति' है। पद–प्रयोग मे कवि के व्यक्तित्व का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रत्येक कवि की रचना मे शैलीगत विभेद होता है। इसी शैलीगत विभेद और उसकी विलक्षणता का सम्बन्ध रीति से है। कवियो की व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण रीतियो की सख्या अनन्त मानी गयी है। प्रदेश या स्थान विशेष के लोग विशेष प्रकार की भाषा–शैली का प्रयोग करते है। भाषा शैली का स्थान या प्रान्तगत साहित्यिक विशेषताओ का उल्लेख बाणभट्ट के 'हर्षचरित' मे मिलता है। इनके अनुसार उत्तरी प्रदेश मे श्लिष्ट भाषा का प्रयोग होता है जबकि पश्चिमी प्रदेश मे अलकार विहीन सरल अर्थ पर जोर दिया जाता है। इसी प्रकार दक्षिण प्रदेश मे उत्प्रेक्षा और पूर्वी प्रदेश मे वर्णो के आडम्बर पर बल दिया जाता है। बाणभट्ट का समय ईसा की ७वी सदी है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक चार प्रकार की रचना शैली थी।

'रीति' शब्द का शैली के अर्थ मे प्रथम प्रयोग ८वी शती मे वामन के द्वारा किया गया है। आचार्य भरत का ध्यान तो काव्य के रीति तत्त्व की ओर गया ही नही। भामह ने दो प्रकार के मार्गो (रीति) वैदर्भी और गौडीय का उल्लेख किया है। इन्होने बाणभट्ट निर्देशित चार शैलियो मे से उत्तर और पश्चिम प्रदेश की शैली की ओर ध्यान नही दिया। वैदर्भी और गौडीय के रूप मे क्रमश दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रीय साहित्यिक शैलियो मे दक्षिणी को बाणभट्ट के निर्देशित स्वरूप मे ही इन्होने स्वीकारा लेकिन पूर्वी (गौडीय) शैली अलकार युक्त होने पर ही सुग्राह्य है। इन्होने काव्य के लिए पुष्टार्थता एव वक्रोक्ति को आवश्यक बताया।

इस प्रकार 'मार्ग के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को जान लेने के उपरान्त मार्गो के सम्यक विवेचन एव काव्यशास्त्रियो के 'मार्ग' से सम्बन्धित विचार जानने के लिए मुख्य रूप से चार भागो मे मार्गो को विभक्त कर सकते है—

क प्रदेशो पर आधारित काव्य—मार्ग

ख रचना शैली (काव्य तत्त्वो) पर आधारित काव्य—मार्ग

ग कवि स्वभाव पर आधारित काव्य—मार्ग

घ काव्य चिन्तन पर आधारित काव्य—मार्ग

इन भेदो को उनके अवान्तर भेदो तथा उनके समर्थक आचार्यो के साथ निम्नलिखित विधि से अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है।
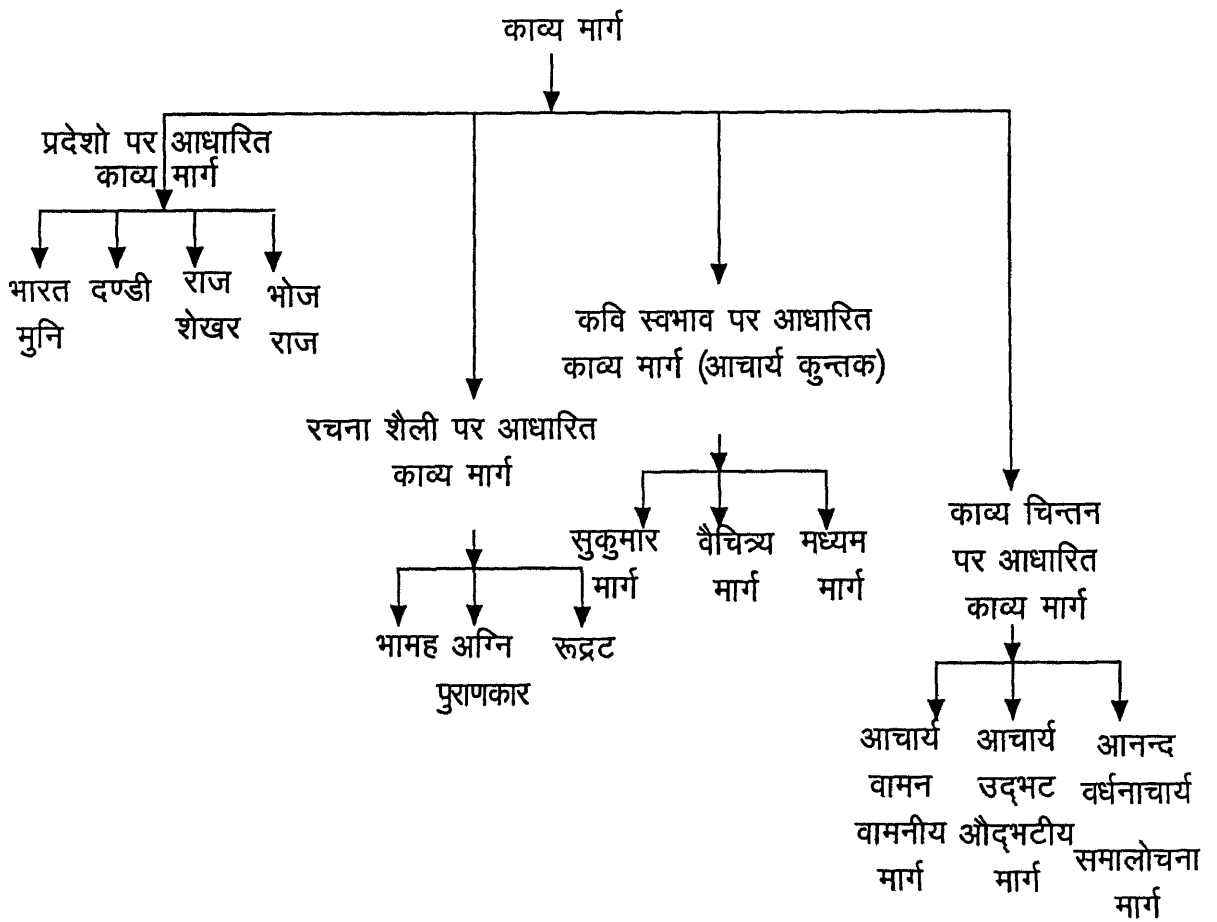
(क) प्रदेशों पर आधारित काव्य–मार्ग

विभिन्न आचार्यो द्वारा विदर्भ आदि देशो मे उत्पन्न होने वाले लोगो के द्वारा बनाया गया रास्ता काव्य मे मार्ग इस नाम से स्मृत है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि रीति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है मार्ग। पथा, वीथि, गति, प्रस्थान, सब रीति के ही पर्यायवाची है। रीति किसी लेखक के विशिष्ट लेखन प्रकार को सूचित करती है। वस्तुत कवि अपने मनोगत भावो की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के नवीन मार्गो का अनुसरण करते है। भरत, राजशेखर और भोज आदि काव्य शास्त्रियो ने विभिन्न देशो पर आधारित विभिन्न काव्य मार्गो का उल्लेख किया है। इन्होने प्रवृत्ति के रूप मे रीति का विवेचन किया है अर्थात् इन काव्य–शास्त्रियो ने रीति को प्रवृत्ति का नाम दिया है और तदनुसार उसका विवेचन किया है। देशो के आधार पर मार्गो (रीतियो, प्रवृत्तियो) का विवेचन करने वाले आचार्यो मे नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत सर्वप्रथम है। अत प्रदेशो पर आधारित काव्य मार्गो के विवेचन के लिए सर्वप्रथम आचार्य भरत का दृष्टिकोण जान लेना आवश्यक है।

१. भरतमुनि

यदि भरत मुनि से प्रारम्भ करे तो हम देखते है कि उनके नाट्यशास्त्र मे रीति अथवा मार्ग का प्रत्यक्ष विवेचन तो उपलब्ध नही होता परन्तु उसमे भारत के विभिन्न प्रदेशो मे प्रचलित चार प्रवृत्तियो का उल्लेख मिलता है। भरत ने प्रवृत्ति की परिभाषा भी प्रस्तुत की है जिसके अनुसार प्रवृत्ति अनेक देशो के वेश, भाषा तथा आचार आदि को व्यक्त करती है। दूसरे शब्दो मे, भरत के अनुसार प्रवृत्ति अपने भीतर समूची जीवनचर्या को **समेटे हुए है। इसके विपरीत रीति का क्षेत्र केवल भाषा तक सीमित है।** प्रवृत्ति का आधार भौगोलिक अथवा प्रादेशिक होता है और इन्हीं प्रदेशो के आधार पर आचार्य भरत ने चार प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्ति आवन्ती थी, दक्षिण भारत की प्रवृत्ति दक्षिणात्य थी,

उडीसा तथा मगध अर्थात् पूर्वी भारत की प्रवृत्ति पाञ्चाली थी। जैसा कि भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे लिखा है–

पुनश्चैव प्रवक्ष्यामि प्रवृत्तीनान्तु लक्षणम्।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगतः।।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी।।[१]

प्रवृत्ति शब्द अपनी व्युत्पत्ति (प्र+वृत्+क्तिन्) के साथ–साथ अनेक अर्थ प्रकट करता है। यह बुद्धि तथा कर्मेन्द्रिय की चेष्टाये शरीर के लीला–विलास आदि व्यापार, उनके हाव–भाव आदि विकार तथा आलाप एव विलाप आदि वाग् व्यापार, मनुष्य की पाप–पुष्य वृत्ति आदि ये सभी प्रवृत्ति के अर्थ हैं। प्रवृत्ति का यहॉ नाट्य प्रयोग के सदर्भ मे व्यापक अर्थ मे विधान भी है। भरत मुनि के अनुसार जो वृत्ति भारत वर्ष के देशो मे प्रचलित विभिन्न वेश–भाषा, आचार एव वार्ता का स्थापन करती हो, वही प्रवृत्ति है। आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने प्रवृत्ति शब्द की व्यापक व्याख्या की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति शब्द सूचना या प्रख्यापन के अर्थ मे यहॉ प्रयुक्त हुआ है। अत जो सम्पूर्ण लोक मे प्रचलित मानव के जीवन की प्रवृत्तियो का ज्ञान करवाती हो वही प्रवृत्ति है। यह मानवीय सभ्यता को जतलाने का एक सशक्त साधन होती है जो वाह्य या ऊपरी (अर्थ) स्वरूप का पूर्णत ज्ञान करवाती है।

देश, वेश, भाषा एव आचार से मुख्यत प्रवृत्ति का सम्बन्ध रहता है जो इनका आधार भी है परन्तु इनकी विभिन्नताओ के कारण प्रवृत्तियो के अनेक प्रभेद नही हुए वे केवल चार ही रखे गये हैं। इसका कारण भी अभिनव गुप्त पादाचार्य ने बतलाया है कि नाट्य चित्तवृत्ति प्रधान होती है। जिसमे अनेक मानवीय मनोदशाओ को नाट्य रूप प्रदान करना पडता है। तथा जिनमे देश, भाषा, वेश एव आचार सहायक होते है परन्तु इन असख्य प्रवृत्तियो के वर्गीकरण से व्यवस्थित रूप मे इनकी शिक्षा तथा अभ्यास

---

१ नाट्यशास्त्र १३/३७

सम्भव नहीं होगा। इसी कारण विभिन्नता के मध्य भी समान लक्षणो के आध
ार पर वर्गीकरण मे प्रधानत प्रवृत्तियो के चार प्रभेद ही रखे गये है। भरत मुनि द्वारा उल्लिखित ये चार प्रभेद है— १ आवन्ती, २ दाक्षिणात्य, ३ पाञ्चाल मध्यमा तथा ४ औड्रमागधी भोज ने बाद मे एक पाञ्चाली प्रवृत्ति को जोडकर प्रवृत्तियो की सख्या पाच मानी थी। यहाँ भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रवृत्ति का यह विभाजन भरत कालीन भारत के भौगोलिक विभाजन तथा वेश—भूषा से सम्बद्ध लोक—व्यवहारो पर निर्भर था। इसलिए कई जनपदो को मिलाकर बनाये गये एक बडे भूभाग के लिए एक प्रवृत्ति का प्रधानत उपयोग होता था जो उसकी प्रधानता की सूचक भी हो जाती थी। जैसे यदि किसी विस्तीर्ण भू—भाग मे श्रृगार की प्रधानता है तो किसी मे अन्य की। अतएव इन विविध विशेषताओ से युक्त एव प्रसाधित होकर ही पात्र अपना नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करते थे, परन्तु उनकी वेश—भूषा, भाष तथा व्यवहार उन्हे अन्य पात्रो से विशिष्ट बना देते थे। वेश और भाषा तो वास्तविक रूप मे अवान्तर कारण थे, किन्तु यहाँ देश भेद एव स्वभाव की भिन्नता भी प्रवृत्ति भेद मे भिन्नता का सकेत देते है।

१. दाक्षिणात्या प्रवृत्ति

यह प्रवृत्ति श्रृगार प्रधान होती है। इसका कारण है दक्षिण देश वासियो की नृत्य, गीत एव वाद्य प्रियता रहना। इसी कारण उनके अभिनय चतुर, मधुर तथा ललित रहते है। दक्षिणात्य देश के अन्तर्गत दक्षिण के सभी प्रदेशो का समावेश समझना चाहिए। महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल तथा पाल मजर पर्वतो के मध्य स्थित प्रदेश दाक्षिणत्य माने जाते है। इनके वेश भाषा तथा आचार मे परस्पर अतिशय साम्य रहता है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति सुकुमारता लिये रहने से वैदर्भी रीति से साम्य रखती है, क्योकि विदर्भ दाक्षिणात्य देश के रूप मे भी प्रसिद्ध है ही। दाक्षिणात्यो की सगीत विषयक सुस्वरता एव ध्वनि की सहज रमणीयता को तो कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ मे दिखलाया है।

२. आवन्तिकी प्रवृत्ति

यह प्रवृत्ति अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, आरबुद, दशार्ण, त्रिपुर, मृत्तिकावत प्रदेशो के वासियो की भाषा, वेश भूषा तथा अचार–विचार आदि से सम्बद्ध होती है। अत जब इन देशो के पात्र नाट्य प्रयोगो मे प्रस्तुत होते है तो उनकी वेश–भूषा तथा भाषा तदनुसार ही रहती है। इसमे सात्वती तथा कैशिकी वृत्तियो का प्रयोग रहता है। अवन्ती प्रदेश की स्त्रियो के वेश–विन्यास मे कुन्तल या घुघराले केशो मे उनका प्रसाधन रखा जाता है क्योकि नाट्य प्रयोगो मे देशज वेश महत्त्व रखता है। इसमे धर्म श्रृगार की प्रधानता होती है। अत सात्वती एव कैशिकी वृत्ति का यहॉ समन्वय रखा जाता है।

३. औड्रमागधी प्रवृत्ति

यह प्रवृत्ति अग, कलिग, वत्स, औड्रमागध, पौड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि, वर्हिगिरि, मालद, ब्रह्मोत्तर, प्रागृज्योतिष, पुलिन्द, विदेह, ताम्रलिप्ति तथा प्राच्य देशो के निवासी पात्रो मे प्रयुक्त की जाती है तथा पूर्व दिशा के निवासी भी इसी का प्रयोग करते है। प्राच्य देश की सीमा समुद्र तट से चलती हुई दक्षिण तक जाती है तथा उत्तर मे मगध देश मे लगती है। अत इन दोनो देशो की मध्यवर्ती होने से इसे औड्रमागधी कहा जाता है। यह आन्ध्र तथा कलिग दोनो के आचार्यो आदि की उपजीव्यता धारण करती है तथा दोनो के कारण ही इसके नाम मे एकीभाव या मिश्रण विद्यमान है जो इस प्रवृत्ति मे परिलक्षित होता है। इसमे भारती तथा आरभटी वृत्ति का समन्वय रहता है तथा आडम्बर प्रधान घटाटोप भरे वाक्यो का प्रयोग इसमे प्रचुरता से देखा जाता है। इसके अन्तर्गत जिन–जिन प्रदशो की परिगणना हुई है उनका उल्लेख किञ्चित परिवर्तन के साथ पुराणो मे मिलता है।

४. पाञ्चाल मध्यमा प्रवृत्ति

यह प्रवृत्ति पाञ्चाल, शूरसेन, काशमीर, हस्तिनापुर वाल्हीक, काकल,

मद्र कुशीनगर तथा हिमालय के समीपवर्ती प्रदेश एव गगा नदी के उत्तर की ओर के निवासी जनपदो के पात्रो मे प्रयुक्त की जाती है। इस प्रवृत्ति मे सात्त्वती और आरभटी वृत्तियो की प्रचुरता रखी जाती है। तथा गीत प्रयोग की अल्पता के कारण कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नही रहता है।

इस प्रकार आचार्य भरत ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो के वेश–भूषा आचार–व्यवहार आदि पर आधारित उपर्युक्त चार प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के काव्यशास्त्रियो ने रीति या मार्ग का ग्रहण आचार्य भरत मुनि की इन प्रवृत्तियो से ही किया है।

२. आचार्य दण्डी

विद्वान् आचार्यो ने काव्यशास्त्र अथवा लोक व्यवहार के ज्ञान के उद्देश्य से वैदर्भ, गौडीय आदि विभिन्न काव्य मार्गो मे विभक्त वाक्यप्रबन्धो (काव्यग्रन्थो) की रचना की पद्धति का विधान किया है। आचार्य दण्डी ने काव्य मार्गो का विभाजन विभिन्न देशो के आधार पर स्वीकार किया है। उनका विवेचन अत्यन्त व्यापक एव व्यवस्थित है किन्तु न उन्होने इसकी परिभाषा दी है और न ही उसके महत्त्व का उद्घाटन किया है यद्यपि सस्कृत काव्यशास्त्र मे सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने ही रीति का व्यवस्थित विवेचन किया है। इसलिए कुछ विचारक उन्हे रीतिवादी ही मानते है। दण्डी ने वाक् प्रबन्ध के अनन्त मार्गो या पद्धतियो का सकलन दिया है। इनका मत है कि वाणी के अनेक मार्ग है, जिनमे परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। इनमे वैदर्भ तथा गौडीय मे स्पष्ट अन्तर होने से इनका वर्णन किया गया है। उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काव्य मार्गों के मुख्यत जो दो ही भेद है जिनकी चर्चा इन्होने काव्यदर्श मे की है।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेद· परस्परम्।

तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।।[1]

---

१ काव्यादर्श १/४०

तात्पर्य यह है कि काव्य के परस्पर सूक्ष्म अनन्तर वाले अनेक मार्ग है जिनका वर्णन इनमे अस्फुट भेद होने के कारण सम्भव नही इसलिए उनमे से स्पष्ट अन्तर वाले वैदर्भ और गौडीय मार्गो का वर्णन यहाँ किया जाता है।

इसके पूर्व आचार्य दण्डी ने काव्य शरीर का निरुपण किया, उन्होने गद्य आदि बन्ध के आधार पर काव्य के तीन रूपो, भाषा के आधार पर चार प्रकारो और रस ग्रहण के माध्यम के आधार पर इसके दो भेदो की चर्चा की है। उपर्युक्त श्लोको मे वह रचना प्रकार के आधार पर उक्त काव्य शरीर के अनन्त भेदो की प्रस्तावना करता है। इस ओर उन्होने पहले ही **'वाचाविचित्र मार्गाणम्'** कहकर सकेत किया है। इन भेदो के वर्णन मे आचार्य ने अपनी असमर्थता व्यक्त की है—

'तद्भेदास्तु न शक्यते वक्तु प्रतिकविस्थिता ।

फिर भी मोटे तौर पर स्पष्ट अन्तर वाले मार्गो को लक्षित किया जा सकता है, ऐसे दो मार्ग है— वैदर्भ (महाराष्ट्र का एक भाग अथवा साधारणत दक्षिण प्रदेश) मे प्रचलित वैदर्भमार्ग और गौड देश (साधारणत पौरस्त्य प्रदेश) मे प्रचलित गौडीय मार्ग। यहॉ अवधेय है कि दण्डी ने मार्ग की परिभाषा नही दी है। यद्यपि उनकी काव्य परिभाषा से एव मार्ग निरूपण से मार्ग सम्बन्धी उनकी अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। उनके अनुसार इष्ट अर्थ से सवलित पदावली काव्य है। इस प्रकार उनके मत मे पदावली की इष्टता (काव्य के रूप मे स्वीकृति) के लिए अर्थ की इष्टता आवश्यक है और फलत काव्य मे पदावली (शब्द) और अर्थ की समुचित योजना अभीष्ट है। वस्तुत शब्द और अर्थ की उचित योजना दण्डी के अनुसार मार्ग है। मार्ग की परिभाषा सर्वप्रथम हमे वामन से प्राप्त होती है जिन्होने उसे रीति के रूप मे प्रस्तुत किया और काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। वामन ने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा (विशिष्टा पद रचना रीति)। पद रचना की विशिष्टता उनके अनुसार गुणो द्वारा सम्पाद्य है। दण्डी की शब्दार्थ योजना का आधार गुण है। जिनकी व्याख्या आचार्य दण्डी ने गुणो के प्रसग मे की है।

मार्ग के उक्त विभाजन का यह अभिप्राय नही है कि पूर्व प्रदेश के काव्यो मे वैदर्भ की अथवा दक्षिण प्रदेश की काव्य रचनाओ मे गौडीय श्मार्ग की स्थिति सम्भव नही है। रत्नश्री ज्ञान ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि जिस प्रकार चन्दन मलयेतर प्रदेश मे दृष्टिगोचर होता हुआ भी 'मलयज है, उसी प्रकार वैदर्भ और गौडीय मार्ग भी विदर्भेतर और गौडेतर प्रदेशो मे लक्षित होते हुए भी विदर्भ सहज और गौड सहज होने के कारण वैदर्भ और गौडीय ही रहेगे। यद्यपि इस व्याख्या से काफी पहले वामन इस सम्बन्ध मे यह कहकर स्पष्टीकरण दे चुके थे कि देश विशेष काव्य धर्मो के नियामक नही होते, फिर भी वहॉ के कवियो द्वारा सामान्यत उपात्य होने के कारण इन रीतियो को वैदर्भी आदि नाम दिये गये है, कि पुनर्देशवशाद् द्रव्यवद्गुणोत्पत्ति काव्याना येनाय देश विशेषव्यपदेश ? नैव यदाह–विदर्भादिपु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।[1] उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियो मे कुन्तक, रस ध्वनिवादी आचार्यो को छोडकर शेष मे प्राय रीतियो के प्रादेशिक नामकरण को सर्वतोभावेन उराकी सार्थकता न मानते हुए भी ग्रहण क्रिया।

दण्डी के मार्ग विभाजन का सर्वथा विरोध करने वाले आचार्यो मे भामह प्रमुख है। उन्होने दण्डी के मार्ग विभाजन का इन शब्दो मे विरोध किया है वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यते सुधियोऽपरे। तदेव च किल ज्याय सदर्थमपि नापरम्। गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति कि पृथक्। गतानु गतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।।[2]

वामन ने दण्डी के दो मार्गो के स्थान पर तीन रीतियॉ मानी वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली (पाञ्चाल और उदीच्य प्रदेश की)[3] रूद्रट ने इनमे लाटीया को जोडकर चार रीतियो का प्रतिपादन किया। ऐसा उन्होने सम्भवत पश्चिम प्रदेश को भी प्रतिनिधित्व देने के लिए किया। कुछ अन्य काव्यशास्त्रियो ने उक्त मार्गो को कुछ परिवर्तन के साथ तीन वृत्तियो उपनागरिका, परूषा, कोमला के रूप मे स्वीकार किया।[4]

---

१ काव्यालकार सूत्रवृत्ति, १/२/६/१० वृत्ति
२ काव्यालकार २/३१/२
३ काव्यालकार सूत्रवृत्ति, १/२/६/२२
४ ध्वन्यालोक ३/४७ वृत्ति

आचार्य दण्डी द्वारा विभाजित उपरोक्त दो मार्गो के मध्य कवि भेद से अनन्त अवान्तर प्रभेद हो सकते है किन्तु उनका वर्णन करना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार ईख, दूध और गुड मे विद्यमान माधुर्य मे महान् अन्तर है, किन्तु उनका वर्णन सरस्वती भी नही कर सकती।

इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्।

तथापि न तदाख्याहुं सरस्वत्यापि शक्यते।।[1]

दण्डी का मत है कि वैदर्भ मार्ग मे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण पाये जाते है, ये ही वैदर्भ के प्राण हैं जबकि गौडीय मे इनमे से कुछ गुणो का विपर्यय या अभाव रहता है। उन्होने दस गुणो का मार्ग सापेक्ष विवेचन किया है, उससे दोनो मार्गो का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। वैदर्भ मार्ग के प्रमुख तत्त्व है– पद योजना मे कोमलता, एकरूपता एव सश्लिष्टता, अर्थ की स्पष्टता एव परिपूर्णता, भावो की स्वाभाविकता एव उदात्तता तथा सादृश्य मूलक अलकारो की योजना। इसके विपरीत गौडीय मार्ग के अधोलिखित तत्त्व सामने आते है – पद योजना की कठोरता तथा समास बहुलता, अनुप्रास तथा आडम्बर पूर्ण शब्दो की योजना और अतिशयोक्तिपूर्ण शैली।

आचार्य दण्डी के उपर्युक्त मार्ग विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने रीति (मार्ग) विवेचन को पर्याप्त व्यवस्थित एव गम्भीर रूप मे प्रस्तुत किया है जो वामन को रीति सिद्धान्त के प्रणयन मे न केवल प्रेरणा देता है प्रत्युत् एक ठोस धरातल भी प्रदान करता है।

३. राजशेखर

आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रथ काव्यमीमासा मे मार्गो अथवा रीतियो के निरूपण के लिए एक पृथक अधिकरण की रचना भी की है। तृतीय

---

१ काव्यादर्श १/१०२

अध्याय मे एक सरस पौराणिक कल्पना द्वारा काव्य मे वृत्तियो, प्रवृत्तियो, रीतियो का स्वरूप वर्णन करते हुए उनके क्रम विकास का रहस्यमय वर्णन किया है। इसके लिए उन्होने एक काव्य पुरूष की कल्पना की और काव्य पुरूष की यात्रा के प्रसग से भारत के उन चार भागो के वेश, विलास और वचन विन्यासो का दिग्दर्शन करा दिया है जिन्हे प्राचीन आचार्यो ने निर्धारित किया था। आचार्य राजशेखर ने रीति को वचन विन्यास क्रम माना है अर्थात् वचन विन्यास का क्रम ही रीति है, यह परिभाषा वामन से बहुत भिन्न नही, केवल शाब्दिक अन्तर है। राजशेखर ने यह विवेचन काव्यपुरूष रूपक के अन्तर्गत किया है इसलिए पद के स्थान पर वचन शब्द रखा जाता है।

मार्ग निरूपण के सन्दर्भ मे उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजशेखर ने रीतियो का विभाजन भारत के विभिन्न प्रदेशो के आधार पर ही किया है। उन्होने जिस काव्य पुरूष के रूपक द्वारा काव्य तत्त्वो का विवेचन किया है, उससे यह तथ्य सामने आता है। राजशेखर ने रीतियो का विस्तृत विवेचन तृतीय अधिकरण मे किया होगा। जैसा कि वे कहते है—

रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।[१]

फिर भी जो तथ्य ऊपर उद्घटित किया गया है वह आचार्य राजशेखर की काव्यमीमासा के प्रथम अधिकरण के विवेचन से ही सामने आ जाता है। इसमे वर्णित है कि काव्य पुरूष जब माता से रूष्ट होकर भाग चला तो माता सरस्वती ने उसे समझाने के लिए अथवा वश मे करने के लिए साहित्य विद्यावधू को उत्पन्न किया। वह काव्य पुरूष को मनाने के लिए उसके पीछ—पीछे चल पडी। सबसे पहले काव्य पुरूष पूर्व दिशा मे गया, जहॉ, अग, बग, ब्रह्म, पुण्ड्र आदि जनपद थे। वहॉ काव्यपुरूष साहित्यविद्यावधू की वेश—भूषा, नृत्य, वाद्य आदि से तनिक भी प्रभावित नही

---

१ काव्य मीमासा, पृ ५०

हुआ। अत जैसा लोक मे देखा जाता है कि जब मनुष्य क्रोध मे होता है तो वह उल्टी–सीधी बाते करता है तथा अनाप–सनाप बकता रहता है और जब प्रसन्न होता है तो बहुत ही सरस और सुहावनी बाते करता है। उसकी क्रोध भरी बातो से लोगो को आनन्द नही मिलता। सामान्य जन के लिए वो बाते अरूचिकर होती है। उसी तरह अप्रसन्न काव्य पुरूष ने क्रोधावेश मे जो समास बहुत आनुप्रासिक और योगवृत्ति परम्परागर्भ वाक्य कहे उनकी सज्ञा गोडीया रीति या गौडीय मार्ग दी गयी क्योकि वचन विन्यारा क्रम को ही तो राजशेखर ने रीति कहा है– 'वचन विन्यासक्रमो रीति'[1]। इसके अनन्तर काव्य पुरूष पाञ्चाल आदि देशो को गया। जहॉ पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, कश्मीर, बाल्हीक मालवेय इत्यादि जनपद थे। साहित्य विद्या वधू ने वहॉ उस देश की परम्परा के अनुसार वेश–भूषा धारण की। काव्यपुरूष वहॉ साहित्य विद्यावधू की वेश–भूषा तथा नृत्यवाद्य आदि से कुछ आर्द्र–चित्त हुआ और उसने किचित समास रहित, अल्पानुप्रासिक और उपचार गर्भ जिस वचन विन्यास को प्रस्तुत किया वह पाञ्चाली रीति कहलायी।[2]

इसके अनन्तर काव्यपुरुष जब दक्षिण दिशा मे गया, जहॉ पर कुन्तल, केरल, महाराष्ट्र तथा गग आदि जनपद है। वहॉ साहित्य विद्या वधू ने अपनी वेश–भूषा और गीतवाद्य आदि से उसे रिझाया तो वह उस पर पूर्ण प्रसन्न हो गया और साहित्य विद्यावधू के पूर्णतया वश मे होकर जिस युक्तानुप्रासिक, समासरहित एव योगवृत्ति गर्भ वचन विन्यास क्रम को प्रस्तुत किया उसे वैदर्भी रीति या वैदर्भ मार्ग की सज्ञा प्रदान की गई।[3] इस प्रकार चार देशो की काव्य रचना शैली तीन प्रकार की है, जिसे राजशेखर ने रीति कहा है। क्रमश पूर्व देश की काव्य रचना शैली का नाम गौडीय है। पाञ्चाल की शैली का नाम पाञ्चाली है और अवन्ति तथा विदर्भ

---

१ काव्यमीमासा पृष्ठ–४६

२ काव्यमीमासा पृष्ठ ४४–४६

३ काव्यमीमासा पृष्ठ ४७/४८

की रचना शैली का नाम वैदर्भी है। आचार्य राजशेखर के अनुसार उन रीतियो द्वारा क्रमश काव्य रचना का विकास हुआ। राजशेखर के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनके द्वारा किया गया रीतियो का विभाजन पूर्णतया दशो पर आधारित है। इतना ही नही उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि मे वैदर्भी उत्तम कोटि की रीति है। जब कि गौडीया अधम और पाञ्चाली मध्य कोटि की रीति है।

४. भोजराज

भोज ने **'सरस्वती कण्ठाभरण'** मे रीति का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होने गुण और समास दोनो को रीति का आधार स्वीकार करते हुए छ रीतियाँ स्वीकार की हैं – वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, लाटीया आवन्तिका और मागधी। इनमे से प्रथम तीन रीतियो का विवेचन इनके पूर्ववर्ती आचार्य वामन ही कर चुके थे और चतुर्थ रीति का विवेचन रूद्रट ने किया था। भोज के अनुसार लाटीया समस्त रीतियो के सम्मिश्रण से बनती है तथा पूर्व रीतियो मे किसी एक का निर्वाह न होने पर मागधी नामक खण्डरीति होती है। पाचालीव वैदर्भी की अन्तरालवर्तिनी आवन्तिका रीति होती है।[१] इस प्रकार भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण मे छ रीतिया स्वीकार की है तथा यह उल्लेख किया है कि काव्य मे इन रीतियो को ही 'मार्ग' इस नाम से कहा जाता है। उन्होने 'रीति' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी सरस्वतीकण्ठाभरण मे दिया है–

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।

रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।।[२]

प्रकृत श्लोक मे भोज के कहने का तात्पर्य यह है कि विदर्भ आदि देशो मे उत्पन्न होने वाले लोगो के द्वारा बनाया गया रास्ता काव्य मे 'मार्ग' इस नाम से कहा जाता है अर्थात् जिसे पूर्ववर्ती लोग मार्ग कहते थे उसे ही रीति कहते है। इसे रीति की व्युत्पत्ति 'रीङ्' गतौ धातु से है।

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण, २/२८/३३

२ वही, २/२७

रीति का काव्य मे विशेष महत्त्व है। वामन ने इसको काव्य की आत्मा कहा और एक नवीन रीति सम्प्रदाय की स्थापना की। इनके पूर्ववर्तियो मे दण्डी ने सर्वप्रथम दो रीतियो को स्वीकार करके उनका स्पष्ट विवेचन प्रारम्भ किया। उन्होने अन्य मार्गो को स्वीकृत करते हुए भी दो को ही प्रमुख माना है। दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने भी वैदर्भी तथा गौडी को मार्ग की सज्ञा दी है।

इस प्रकार कुछ आलकारिक इसे मार्ग, कुछ रीति कहते है। चूँकि इसी पदरचना के द्वारा ही कविगण दुनिया भर मे खोज करते है अत इसे मार्ग कहते है। 'रीति' पद का अर्थ है– "रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति' अर्थात् जिसके द्वारा परम्परया चला जाता है, उसे रीति कहते है। रीति पद मार्ग का पर्याय है। भोजराज ने दोनो की एकार्थता की ओर सकेत करते हुए रीति की व्युत्पत्ति दी है।

भोजराज केवल व्युत्पत्तिगत अर्थदेकर शान्त हो रहे है, किन्तु इनके पूर्ववर्ती आचार्यो मे इस पद को लेकर अधिक चर्चा हुई है। भामह के मन्तव्य से स्पष्ट है कि वह अभेदवादी है। उनकी दृष्टि मे उनके समय मे चलने वाला वैदर्भी तथा गौडी रीतियो की सत्ता तथा महत्ता का विवाद नि सार था। वह शब्द तथा अर्थ की वक्रता को सौन्दर्य का मूल कारण मानते थे, न कि रीतियो को। उन्ही के शब्दो मे–

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।[१]

भामह की दृष्टि मे प्रथम तो गौडी, वैदर्भी जैसा भेद करना ही अनुचित है और यदि किया भी जाता है तो मात्र पद प्रयोग होने से अनिवार्यत सौन्दर्याधायक नही हो सकता। दण्डी ने रीति को गुण का आधार माना है और गुणो को रीतियो का प्राण कहा है–

---

१ काव्यालकार (भामह) १/३६

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता·।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।[1]

'रीति' के सन्दर्भ मे वामनाचार्य का मत अलग है। उन्होने रीति को काव्य का प्राण कहा है और गुणात्मक पद–रचना को रीति कहा है। इस प्रकार दण्डी और वामन के मतो मे एक बात समान है कि दोनो ही गुण के आधार पर रीति की स्थिति स्वीकार करते है, न कि रीति के आधार पर गुण। आनन्दवर्धन भी रीति को गुणाश्रित ही मानते है, किन्तु रीतियो का स्वरूप–निर्धारण उनके अनुसार समास करते है न कि गुण, इस प्रकार का भी मत वे प्रस्तुत करते है–

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।

तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता।।

कैश्चिद् गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती,

माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान्।।[2]

इसी प्रसग मे उन्होने गुण तथा सघटना के सम्बन्ध विषयक अनेक मत दिये है। वस्तुत यह रूद्रट है, जिन्होने समस्तता तथा असमस्तता के आधार पर रीतियो का विभाजन किया है–

नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।

वृत्तेः समासवत्त्यास्तत्र स्यु· रीतयस्तिस्रः।।

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नातोऽभिहिताः।

लघुमध्यायतविरचनसमास भेदादिमास्तत्र।।

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।।[3]

---

१ काव्यादर्श, १/४२

२ ध्वन्यालोक, ३/५–६

३ काव्या (रूद्रट) २/३, ४,६

राजशेखर ने 'वचनविन्यासक्रमो रीति' कहा है, किन्तु भोज द्वारा दिये गये विभिन्न रीतियो के लक्षणो से ज्ञात होता है कि वह रीति मे समास, गुण तथा कर्णप्रियता, इन तीनो को समवेत रूप से आवश्यक मानते है। इनके मत की सबसे बडी विशेषता तो यही है कि यह रीति को शब्दालकार मानते है, न कि अग सस्था मात्र। विश्वनाथ ने पद सघटना को ही रीति माना है और उसका काव्य मे वही महत्त्व स्वीकार किया है जो एक रमणी के शरीर मे गठन का होता है।

'गुणवत्पदरचना रीति। गुणा श्लेषादय काव्यव्यभिचारिणो नव। तेषामन्योन्यमीलनक्षमतया पानकरस इव, गुडमरिचादीना खाडव इव मधुराम्लादीना यत्समूर्च्छनरूपावस्थान्तरगमन तत्सस्कारादेव हि लोकशास्त्रपदरचनात काव्यरूपाच रचना व्यावर्तते। अतएव मृग्यते कविभिरासससारमिति मार्गपदेनोच्यते। वैदर्भादयो विदर्भादिदेशप्रभवास्तै कृतमुखहेवाकगोचरतया प्रकटितो न तु तत्तद्देशै काव्यस्य किचिदुपक्रियते। पन्था इति। प्रतिष्ठन्ते हि महाकविपदवीलाभार्थिन इति। ईदृशमेव। रीतिलक्षणमानन्दवर्धनादीनामपि मतम्। एतदुपलक्षणतया सूत्र व्याख्यातम्। कथ पुनरूक्तमुपमादे रीतिपद प्रवृत्तमित्यत आह—रीङ्गताविति। रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति कारणसार्धनोऽय रीति शब्दो मार्गपर्याय इत्यर्थ।'

भोजराज ने अपने ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे रीतियो को छ भागो मे विभाजित किया है। इनके अनुसार रीतिया ६ प्रकार की होती है।

यह रीति वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया तथा मागधी इन ६ प्रकारो की कही जाती है। भामह वैदर्भी, गौडी आदि रीतियो का तथा उनकी उच्चावचता का प्रपञ्च नही चाहते। दण्डी वैदर्भ तथ गौड दो ही मार्गो को स्वीकार करते है, इसका भी निरूपण किया जा चुका है। वामन ने केवल तीन रीतिया मानी है—

'सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।'[1]

---

१ काव्यालकार सूत्राणि (वामन) १/२/१०

कविराज विश्वनाथ के शब्दो मे   सा पुन स्याच्चतुर्विधा। वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा। जबकि वाग्भट जोर देकर कहते है– द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे। अन्य आलकारिको ने अधिक से अधिक चार रीतियॉ मानी थी, किन्तु भोज ने उनकी सख्या ६ कर दी।

इन रीतियो के नाम देश–विशेष के आधार पर है। इसका अर्थ यह नही है कि इनकी उत्पत्ति इन्ही देशो मे होती है, अपितु इस प्रकार की रचना का प्रारम्भ वही से हुआ और प्राय उन–उन देशो मे इन्ही प्रकार की रचनाओ की प्रधानता होगी। वामन ने काव्यालकार सूत्र मे इस विषय पर पूर्व तथा उत्तर दोनो पक्षो को रखा है– कि पुनर्देशवशाद् द्रव्यवद् गुणोत्पत्ति काव्यानाम येनाय देशविशेषव्यदेश । नैव यदाह

विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यै कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाता् तद्देशसमाख्या। न पुनर्देशै किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।

जैसा कि राजशेखर के 'मार्ग–विभाजन' प्रकरण मे मैने उल्लेख किया है कि यायावरी राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' के तृतीय अध्याय मे काव्यपुरूषोत्पत्ति प्रसग मे बडी विचित्र कथा प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीतियो के विषय मे दी है। उनके अनुसार सरस्वती के शास्त्रार्थ निर्णयार्थ ब्रह्मलोक चली जाने पर उनका पुत्र काव्य पुरूष विलखता हुआ उन्हे खोजने के लिए चारो दिशाओ मे चल पडा। भगवती उमा ने उसे प्रेम बन्धन मे बाधकर शान्त करने के लिए साहित्य विद्या वधू की सृष्टि की और उसके पीछे ऋषियो के साथ दौडा दिया। साहित्य विद्या वधू ने काव्य पुरूष को विभिन्न दिशाओ मे वहॉ के प्रचलित परिधान, नृत्य तथा वाणी द्वारा उसको रिझाने की कोशिश की। वह काव्य पुरूष अन्तत वैदर्भी रीत की उसकी स्तुति से प्रसन्न हुआ।

इस पूरे प्रसग से वामन के मत की पुष्टि होने के साथ ही दो बाते और स्पष्ट होती है। २ गौडी की अपेक्षा पाञ्चाली और पाञ्चाली की अपेक्षा वैदर्भी मे आकृष्ट करने की क्षमता अधिक है। अत उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है।

२ अवन्ती आदि देशो की ओर जाने पर प्रवृत्ति तथा वृत्ति का उल्लेख तो है, किन्तु रीति का नही, जिससे देशो की अनेकता होने पर भी उनकी रीतयो का इन्ही मे अन्तर्भाव हो जाता है।

१ वैदर्भी रीति

भोज द्वारा वर्णित रीतियो मे से समास रहित श्लेष आदि सम्पूर्ण गुणो से समन्वित तथा वीणा की ध्वनि की भाति श्रुत–सुखद रीति वैदर्भी कही जाती है–

तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता।

विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।।[1]

इस प्रकार भोज के अनुसार वैदर्भी रीति मे सभी गुण होते है। आचार्य दण्डी ने सभी गुणो की सम्भावना केवल वैदर्भी मे ही की है। वामन ने भी 'समग्रगुणोपेता वैदर्भी' कहा है। सस्कृत के वाल्मीकि, व्यास, कालिदास सदृश महाकवियो ने 'वैदर्भी रीति की कविताये की है।

श्री हर्ष के द्वारा दमयन्ती के लिये लिखे गये छन्द की योजना आधुनिक आलोचक गुण वैदर्भी रीति से भी करते है। वह छन्द इस प्रकार है–

धन्यासि वैदर्भी गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।[2]

वैदर्भी रीति या वैदर्भ मार्ग मे समासो की अल्पता या न्यूनता रहती है अथवा समास नहीं होते है। लगभग सभी गुणो का समावेश रहता है। यह रीति या मार्ग सरलता और सरसता का द्योतक होता है। इस प्रकार वैदर्भ मार्ग अन्य मार्गों की तुलना मे अधिक गृहणीय मार्ग है।

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण, २/२६

२ नैषध, ३/११६

२. पाञ्चाली रीति

पाञ्चाली रीति का वर्णन करते हुए भोज ने स्पष्ट किया है कि जिस पद सघटना मे पाच–छ पदो का समास हुआ हो, जो ओज तथा कान्ति गुणो से विशेष रूप से हीन हो, किन्तु मधुर और कोमल हो उसे पाञ्चाली रीति कहते है।

यदा तु पानकादिन्यायेन कश्चिदश उदितो भवति तदा रीत्यन्तर–मुत्तिष्ठतीत्याह–

समस्तपञ्चषपदामोज. कान्तिविवर्जितम्।

मधुरा सुकुमारा च पाञ्चालीं कवयो विदुः।।[१]

तात्पर्य यह है कि पाञ्चाली रीति मे न तो समास की बहुलता होती है और न ही न्यूनता या अल्पता होती है, किन्तु समासो के रहने पर भी काठिन्य का प्राय अभाव रहता है। यह मध्यसमासा होती है अत मध्यम कोटि की रीति होती है।

३. गौडीया रीति

भोज के अनुसार अत्यधिक आडम्बरबद्ध पदो का जिसमे समास हो, तथा जिसमे ओज तथा कान्ति नामक गुण विशेष रूप से विद्यमान हो, उसको रीति का विवेचन करने वाले लोग गौडीया रीति कहते है–

समस्तात्युद्भटपदाभोजः कान्तिगुणान्विताम।

गौडीयेति विजानन्ति रीति रीतिविचक्षणा·।।[२]

आचार्य दण्डी द्वारा गौडी रीति के सम्बन्ध मे व्यक्त किये गये विचार भोज के विचारो से साम्य रखते है। भोज के अनुसार जिस पद सघटना मे समास बहुलता होती है, अर्थात् अत्यधिक क्लिष्ट पदावली होती है। ओज

१ सरस्वतीकाण्ठाभरण– २/३०

२ सरस्वती कण्ठाभरण २/३१

और कान्ति जैसे गुणो से युक्त रचना होती है। आडम्बर युक्त पदो का समावेश रहता है। उसे गौडीया रीति कहते है। इस रीति मे एक प्रकार से क्लिष्टता का ही प्राधान्य रहता है।

गौडीया रीति के लक्षण मे भोज द्वारा प्रयुक्त 'अत्युद्भटपदा' का अर्थ 'समूहाप्राणाक्षरा' अर्थात् महाप्राण वर्गो के द्वितीय, चतुर्थ आदि वर्णो से युक्त पद ही लगता है।

समस्तेत। अत्युद्भटानि सोल्लेखसमासानि यस्मादोज कान्त्योरुद्भवे न्यग्भूतगुणसप्तकेय रीति।

इस प्रकार भोज ने गौडीया रीति को दण्डी के अनुसार ही ओजादि गुणो से युक्त तथा आडम्बर पूर्ण माना है।

४. आवन्तिका रीति

आवन्तिका रीति भोज की अपनी उद्भावना है, जिसे उन्होने स्वय ही अपने अनुसार व्यक्त किया है। भोज का मत है कि पाञ्चाली तथा वैदर्भी रीतियो के मध्य मे जो अवस्थित रहती है तथा जो दों–तीन या तीन–चार पदो के समास से युक्त होती है। भोज के कहने का तात्पर्य यह है कि जो न तो वैदर्भी जैसी सरल और सुकोमल पदावली से युक्त और न ही पाञ्चाली जैसी समासयुक्त होती है।

अर्थात् वैदर्भी और पाञ्चाली की मध्यवर्ती वृत्ति से युक्त आवन्तिका रीति होती है–

आन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योयवितिष्ठति।

सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।।[1]

वैदर्भी तथा पाञ्चाली के मध्य मे स्थित होने का अभिप्राय यह है कि इसमे दोनो के कुछ गुण विद्यमान रहते है। यह न तो पूर्णत यही है, न वही

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण् २/३२

अपितु दोनो के मध्य मे स्थित है। अर्थात् इसमे माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण पाञ्चाली के रहते है तथा समास की अल्पता तथ समासरहितता वैदर्भी मे होती है और पाञ्चाली मे पाच, छ पदो का भी समास होता है। अत समास की दृष्टि से दोनो के बीच का अर्थात् दो–तीन अथवा तीन–चार पदो का समास प्राप्त होता है। यही बात उपरोक्त कारिका की दूसरी पक्ति मे स्पष्ट है। इसी प्रकार वैदर्भी मे दस गुण होते है और पाञ्चाली मे विशेषकर माधुर्य तथा सुकुमारता। अत गुण की दृष्टि से दो–एक गुणो का योग भी अपेक्षित है।

माधुर्यसौकुमार्ययो । किंचिदुद्भवेन निमीलनाङ्गप्राधान्येन वान्तरा–लकल्पना ता व्यनक्ति। द्वे त्रीणि वा त्रीणि चत्वरि वेति वार्थे बहुव्रीहि ।

इस प्रकार भोज ने वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य की स्थिति को 'आवन्तिका' नामक रीति कहा है। जो चार रीतियो को मानने वाले आलकारिको का समुदाय है, वह इस रीति के स्थल मे लाटी को मानते है।

(५-६) लाटीया और मागधी रीतियाँ

भोज ने लाटीया और मागधी रीतियो को पाचवी और छठी रीतियो के रूप मे स्थापित करते हुए बताया है कि जिसमे प्राय सभी रीतियॉ मिल रहती है वह लाटीया रीति कही जाती है। पहले प्रारब्ध की गयी रीति का निर्वाह न कर सकने के कारण जब वह रीति खण्डित हो जाती है (और दूसरी रीति का ग्रहण किया जाता है) तब उसे मागधी रीति कहते है।

समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरूच्यते।

पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी।।[1]

भोज का मन्तव्य यह है कि जिस रचना मे सभी रीतियो के लक्षण मिलते है, उसे लाटी रीति कहते है। जैसे कही पर वैदर्भी जैसी समासहीनता,

---

१ सरस्वती कण्ठाभरण २/३३

कहीं गौडी जैसी ओजस्विता, कहीं पाञ्चाली जैसा माधुर्य आदि तिलतण्डुलन्याय से मिला हुआ दिखाई दे, वहॉ लाटी रीति होती है। इसी प्रकार जब एक रीति के अनुसार रचना प्रारम्भ की गयी हो और बाद मे उसे छोडकर किसी दूसरी रीति का ग्रहण किया जाय तब मागधी रीति होती है। इन दोनो मे अन्तर यही है कि लाटी मे एक से अधिक तथा मागधी मे केवल दो ही रीतियो के गुणो का समावेश होता है। यहॉ यह शका उठती है कि एक रीति को छोडकर दूसरी रीति को ग्रहण करते समय अरीतिमत्व दोष हो जायेगा, किन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। वस्तुत जैसे विभिन्न वर्णो के पुष्पो को गूँथकर एक अलौकिक स्वरूप वाली मनोहर माला बन जाती है उसी प्रकार सबका सम्मिलित रूप एक अलौकिक छटा उत्पन्न करता है। मागधी खण्ड रीति अवश्य होती है, किन्तु उसमे सन्दर्भ का सौन्दर्य रहता ही है। उससे रस आदि की अनूभूति मे अवरोध पैदा नही होता।

इन सभी रीतियो के विषय मे प्राय सभी आलकारिको मे एकमत्य नही है। पहले चर्चित प्रसगो मे इनका उल्लेख किया जा चुका है। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण मे कुछ रीतियो के विषय मे अन्य आचार्यो के भी मतो का उल्लेख किया है, किन्तु रीतियॉ अनेक होने पर भी प्रमुख यही है। भोज का निरूपण सबसे अधिक है।

(ख) रचना शैली पर आधारित काव्य–मार्ग

सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति या मार्ग शब्द का प्रयोग काव्य की पद–रचना के रूप मे परिभाषित होता है। श्लेष आदि गुणो के परस्पर सयोग से उत्पन्न रचना को ही विभिन्न आचार्यों ने 'मार्ग' शब्द से अभिहित किया है। कविगणो के द्वारा इसका मार्गण या अन्वेषण किया जाता है अत आचार्यों ने इसे 'मार्ग' शब्द से भी वर्णित किया है।

विभिन्न काव्यशास्त्रियो द्वारा काव्य मार्ग के बारे मे व्यक्त किये गये विचारो से स्पष्ट होता है कि कुछ काव्यशास्त्रियो ने मार्गों का नामकरण

और विभाजन प्रदेशो के आधार पर किया, जिसका वर्णन पहले हम कर चुके है। इसके अतिरिक्त कुछ काव्यशास्त्रियो ने मार्गो का विभाजन और विवेचन काव्य के विभिन्न तत्त्वो यथा—रस, गुण, अलकार आदि को ध्यान मे रखकर किया है। इन आचार्यो मे अग्निपुराणकार, भामह, रूद्रट आदि प्रमुख है। इन आचार्यो ने उपरोक्त विभिन्न तत्त्वो को ही मार्ग—निरूपण का आधार बनाया है। रचना शैली (काव्य तत्त्वो) पर आधारित काव्य मार्गो के विवेचन करने वाले आचार्यो मे भामह सर्वप्रथम हैं।

१. भामह

भामह ने न तो 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति गमनार्थक 'रीङ्' धातु से बताई है और न तो उन्होने 'रीति' अथवा 'मार्ग' शब्दो का प्रयोग ही किया है। वस्तुत उन्होने इस तत्त्व को कोई मान्यता भी नही दी है। बल्कि जो लोग इस आधार पर काव्य को विभिन्न वर्गो मे रखते है, उनका उन्होने 'अमेधस् (बुद्धिहीन) कहकर उपहास किया है।

भामह कहते है कि अमुक काव्य वैदर्भ होने से श्रेष्ठ है और अमुक गौडीय होने से हीन ऐसा कहना गतानुगतिकतामात्र है। नाम से क्या होता है ? वैदर्भ नाम से अभिहित होने वाला काव्य भी हीन हो सकता है और गौडीयमे भी उत्कृष्टता रह सकती है। यदृच्छा से उद्भावित नाम काव्य मे उत्कर्षापकर्ष के विधायक नही हो सकते। वैदर्भ काव्य मे स्पष्टता, ऋजुता, कोमलता हो ही और पुष्टार्थता तथा वक्रोक्ति न हो तो वह सगीत के समान केवल श्रुति मधुर होगा, अर्थात् उसमे केवल बाह्य रजकता होगी, हृदय का स्पर्श करने की मार्मिकता नही।

इसके प्रतिकूल वह गौडीय काव्य भी कही अच्छा है, जो अलकार युक्त, ग्राम्यता रहित, अर्थवान, न्याय सगत और अनाकूल हो। तात्पर्य यह कि नाममात्र से किसी वस्तु को अच्छा या बुरा, उत्कृष्ट या अपकृष्ट नही कह सकते, उसके गुणो पर विचार करके ही कुछ कहना चाहिए। जो लोग यह मानते है कि वैदर्भ नाम की सभी रचनाएँ श्रेष्ठ है और गौड कहलाने

वाली नही, वे भूल करते है। इन नामो से काव्य का आन्तरिक तथा तात्विक वैशिष्ट्य व्यक्त नही होता, अत ये उपेक्षणीय है।

भामह ने वैदर्भ और गौड की चर्चा रीति के रूप मे नही, बल्कि काव्यभेद के अन्तर्गत की है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय विद्वानो का एक वर्ग ऐसा था, जो वैदर्भ को ही श्रेष्ठ काव्य मानता था, उससे भिन्न किसी काव्य–भेद को वह मान्यता देने को प्रस्तुत न था। भामह इस द्वैविध्य को निस्सार, अत अग्राह्य मानते है। उन्होने रीति के स्थान पर 'काव्य' शब्द का प्रयोग करके उसे वैदर्भ और गौड काव्य के रूप मे परिभाषित किया है–

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।।
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।।[1]

यहॉ प्रश्न उठता है कि यह वैदर्भ है, यह गौड है, क्या ऐसा पार्थक्य सम्भव है ? इसके उत्तर मे कहते है कि– गतानुगतिकता के कारण बुद्धिमान ऐसा अवश्य कह सकते है। जो लोग वैदर्भ और गौड नाम से काव्य के भेद करते हैं, वे बुद्धि से काम न लेकर केवल लीक पीटते है, क्योकि इनके पार्थक्य का कोई सुस्पष्ट आधार नही है जो मान्य हो सके।

पुन वादी की ओर से आपत्ति उठायी जाती है कि आप वैदर्भ का खण्डन कर रहे है, किन्तु 'अश्मक वश' आदि को सभी वैदर्भ का उदाहरण स्वीकार करते है। आचार्य भामह इसका समाधान यह कहकर करते है कि यदि काई अश्मक वश आदि के लिए 'वैदर्भ' शब्द का प्रयोग करता है तो किया करे, क्योकि नामकरण तो सर्वथा स्वेच्छा की वस्तु है।[2] नाम और अर्थ की सगति पायी ही जाय, यह कोई आवश्यक नही। इसलिए नाम को लेकर विवाद करना व्यर्थ है।

---

१ काव्यालकार (भामह) , प्रथम परिच्छेद, ३१, ३२

२ **ननु चाश्मकवशादि वैदर्भमिति कथ्यते।**
काम तथास्तु प्रायेण सञ्ज्ञेच्छातो विधीयते।। काव्यालकार, १/३३

(आधुनिक बरार) के दक्षिण मे अश्मक नाम का एक राज्य था। वहॉ सम्भवत 'अश्मक' नाम का कोई राजा हुआ, जिसके वश की कथा 'रघुवश' की तरह इस काव्य मे वर्णित रही होगी।

काव्य के दो भेद स्पष्ट करने के बाद आचार्य भामह वैदर्भ काव्य की विशेषता अर्थात् उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है कि अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट सरल और कोमल (वैदर्भ काव्य) (सच्चे काव्य से) भिन्न, सगीत के समान, केवल श्रुतिमधुर होता है।

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।

भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।।[१]

तात्पर्य यह है कि वैदर्भ काव्य मे मुख्यत स्पष्टता, सरलता, और कोमलता (लालित्य) का समावेश रहता है, पर इन गुणो के कारण ही किसी रचना को सत्काव्य नही मान लेगे, क्योकि ये गुण तो सगीत मे भी रहते है। फिर, सगीत और काव्य मे अन्तर क्या रहेगा ? सगीत से काव्य के भेदक तत्त्व दो है– अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति। यदि ये दोनो गुण हो तभी किसी रचना को काव्य कह सकते है, अन्यथा नही। प्रसाद गुण–सम्पन्नता, सरलता और श्रुतिमाधुर्य काव्य के अनिवार्य उपादान नही, वे सगीत के समान केवल कानो को ही आनन्दित कर सकते है, हृदय मे रस–सचार नही कर सकते, जो कविता का मुख्य धर्म है। अत वैदर्भ को काव्य मानने वालो का मत अग्राह्य है।

गौड काव्य अर्थात् गौड मार्ग की विशेषता बताते हुए भामह का कथन है कि अलकार युक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान् न्याय सगत, अनाकूल, (जटिलता आदि दोषो से युक्त) गौडीय (मार्ग) से भी अच्छा है, अन्यथा इन गुणो से वचित वैदर्भ भी नही अच्छा है। इसे उन्होने प्रथम परिच्छेद की पैतीसवी कारिका मे स्पष्ट किया है–

---

१ काव्यालकार, १/३४

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यामनाकुलम्।

गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।।[1]

वैसा गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ है, जिसमे अलकार हो, ग्राम्यता का अभाव हो, अर्थसौष्ठव विद्यमान हो, लोक और शास्त्र का विरोध न हो तथा जटिलता, क्लिष्टता आदि दोष न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि नाममात्र से किसी वस्तु को अच्छा या बुरा, उत्कृष्ट या अपकृष्ट नही कह सकते, उसके गुणो पर विचार करके ही कुछ कहना चाहिए। जो लोग यह मानते है कि वैदर्भ नाम से अभिहित होने वाली सभी रचनाए श्रेष्ठ है और गौड कहलाने वाली सभी हीन है, वे भूल करते है। इन नामो से काव्य का आन्तरिक तथा तात्त्विक वैशिष्ट्य व्यक्त नही होता, अत ये उपेक्षणीय है।

रीति या मार्ग, जिसे भामह ने 'काव्य' के नाम से अभिहित किया है, का उपसहार करते हुए भामह एक बार फिर वैदर्भी (मधुर बन्ध) के आग्रही आलोचको के मत का खण्डन कर अपना मत उपस्थित करते हुए कहते है कि केवल नितान्त आदि शब्दो के प्रयोग से वाणी मे सौन्दर्य नही आता। वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलकार सौन्दर्य है।[2] यदि किसी काव्य को देखकर कोई बार-बार नितान्त सुन्दर नितान्त सुन्दर कहे तो इससे उसमे सौन्दर्य नही आयेगा। काव्य की निष्पत्ति के लिए उसके सौन्दर्य सम्पादन के लिएसबसे अधिक अपेक्षित है शब्द और अर्थ की वक्रता। वक्रता से समन्वित शब्दार्थ ही काव्य कहला सकता है, शेष सभी धर्म गौण है। भामह के इस सक्षिप्त विवेचन मे भी एक बात पर्याप्त महत्त्व की है और वह यह कि देश भेद से शैली भेद मानना अयुक्ति युक्त और नि सार है। इस सकेत को कुन्तक ने बडी स्पष्टता से व्यक्त किया। उन्होने कहा कि यदि देश-भेद के आधार पर रीतियो को माने तो देशो के अनन्त होने से रीतियॉ भी अनन्त होगी। अत देश-भेद के आधार पर रीतियो या

---

१ काव्यालकार, १/३५

२ **न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।**
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति ।। काव्यालकार, १/३६

मार्गो का विभाजन युक्ति सगत नही है। इसी तथ्य को मानकर भामह ने भी अपने वैदर्भ और गौड काव्य को देश भेद के आधार न स्वीकार करके उसे रचना शैली के आधार पर स्वीकार किया है।

२. अग्निपुराण

यद्यपि 'अग्निपुराण' का मूल विषय काव्यशास्त्र की सामग्री प्रस्तुत करना नही है, फिर भी अग्निपुराणकार ने इससे 'रीति प्रकरण' नाम अध्याय ही लिखा है, जिससे उसके विचार जानने मे हमे पर्याप्त सहायता मिलती है। अग्निपुराण के 'रीतिप्रकरण' मे रीति के भेदोपभेदो की चर्चा करते समय 'भरतेन प्रणीतत्वात् भारतीरीतिरुच्यते'[१] कहकर अग्निपुराणकार ने प्रकारान्तर से स्वय को भरत का ऋणी घोषित किया है। इस प्रकार भरत की सामग्री को स्वीकार हुए भी अग्निपुराणकार का मत उनसे भिन्न है, क्योकि भरतमुनि ने रीतियो के विभाजन का आधार देश–भेद को माना है जबकि अग्निपुराण के रीति प्रकरण पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि अग्निपुराणकार ने रीति के विभाजन का आधार देश को न मानकर रचना शैली को माना है। इन्होने काव्यगुणो को अधिक महत्व दिया है।

अग्निपुराणकार ने चार रीतियॉ स्वीकार की है। यथा–पाचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी। इन्होने अग्नि देवता के मुॅह से कहलाया है कि वाग्विधा (Art of Speech) का पूर्ण ज्ञान कराने मे रीति का स्थान निर्विवाद है तथा इसके पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी (लाटजा) चार भेद है।

वाग्विद्यसंप्रतिज्ञाने रीतिः साऽपि चतुर्विधा।

पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा।।[२]

रीतियो का चतुर्धा विभाजन करने के बाद अग्निपुराणकार रीतियो का क्रमश. स्वरूप बताते है। रीति स्वरूप निरूपण मे सर्वप्रथम पाञ्चाली

१ अ पु,अ ३४०/६

२ अग्नि पुराण अ ३४०/१

रीति का लक्षण करते हुए कहते है कि पाचाली रीति मे छोटे–छोटे समास होने चाहिए, कोमल तथा अलकृत भाषा से उसे सयुक्त होना चाहिए।

उपचारयुता मृद्धी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा।

अनवस्थितसदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा।।[१]

तात्पर्य यह है कि छोटे–छोटे अल्प समासो से युक्त तथा कोमल कान्त पदावली से युक्त और अलकृत एव सुरूचिपूर्ण भाषा का प्रयोग पाञ्चाली रीति मे होता है। इसके विपरीत गौडी रीति मे लम्बे–लम्बे समास हो, आडम्बरपूर्ण पदावली हो तथा सन्दर्भ अनवस्थित हो अर्थात् क्षीण सम्बन्ध हो तो वह गौडी रीति होती है।

पाञ्चाली और गोडी का स्वरूप निरूपण करने के बाद अग्निपुराणकार ने वैदर्भी रीति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

उपचारैर्न बहुरुपचारैविवर्जिता।

नातिकोमलसंदर्भा वैदर्भीमुक्तविग्रहा।।[२]

वैदर्भी रीति मे न तो अलकृत भाषा का उपयोग होता है और न अलकृत प्रयोग से वह हीन होती है। इसमे न तो अति कोमल पदावली का प्रयोग होता है और न यह समास से रहित होती है। इस तरह अग्निपुराणकार ने वैदर्भी रीति को एक प्रकार से मध्यम कोटि की रीति के रूप मे स्थापित करने को उचित समझा।

लाटी रीति का स्वरूप निरूपण करते हुए अग्निपुराणकार ने स्पष्ट किया है कि लाटी रीति मे वाक्य सीधे और सरल होने चाहिए जबकि समास अत्यन्त स्फुट न हो। भाषा का अनावश्यक अलकरण इसमे नही होना चाहिए–

लाटीया स्फुटसंदर्भा नातिस्फुटविग्रहा।

परित्यक्ताऽभि भूयोऽपि उपचारैरुदाह्वता।।[३]

१ अ पु,अ ३४०/२

२ अ पु, अ ३४०/३

३ अ पु, अ ३४०/४

इस प्रकार अग्निपुराणकार ने गौडी, पाञ्चाली, वैदर्भी और लाटी इन चार प्रकार की रीतियो का वर्णन किया। इन रीतियो को पूर्णत रचना शैली पर आधृत माना, जिसमे काव्य के अनिवार्य तत्त्वो रस, गुण, समास आदि के आधार पर इन रीतियो का विभाजन किया। अत स्पष्ट है कि अग्निपुराण के अनुसार रीतियो का विभाजन प्रदेशो के आधार पर न करके काव्य के प्रमुख तत्त्वो के आधार पर ही करना उचित है।

३. आचार्य रूद्रट

रीति–विकास मे रूद्रट का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होने रीति के आधारभूत तत्त्वो पर विचार किया। उनके मतानुसार रीति का मूल तत्त्व समास होते है। समास के आधार पर ही उन्होने रीतियो का विभाजन किया। वामन की तीन रीतियो मे 'लाटीया' नामका चतुर्थ भेद जोडकर रूद्रट ने उन्हे समास के आधार पर दो भागो मे विभाजित किया है–

समासवती और असमासवती। असमासवती से तात्पर्य वैदर्भी से है और समासवती के तीन भेद किये गये है– पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया। इन रीतियो का विभाजन काव्यालकार मे इस प्रकार दिया गया है–

नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।

वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः।।

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।

लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र।।[१]

नाम की वृत्ति (वर्तन अथवा प्रयोग) दो प्रकार की होती है– समास–युक्त और समास–रहित। इनमे से समासयुक्त वृत्ति की तीन रीतियॉ होती हैं, जो पाचाली, लाटीया और गौडीया इन नामो से पुकारी जाती है। इनमे क्रमश लघु, मध्य और आयत समास युक्त रचना है।

---

१ काव्यालकार, (रूद्रट), भ २/३,४

'वृत्ति' इसका समास के साथ सम्बन्ध तथा इसके विभिन्न भेदो की चर्चा रूद्रट से पूर्व वामन और उद्‌भट के ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है, पर किञ्चित अन्तर के साथ। वामन ने वृत्ति को इस नाम से न पुकार कर 'रीति' नाम से पुकारा। इन्होने सर्वप्रथम रीति के तीन भेद बताये—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली किन्तु उद्‌भट ने इन्हे 'वृत्ति की सज्ञा दी। इन रीतियो का नाम परुषा, उपनागरिका, और ग्राम्या बताया तथा इन्हे अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत निरूपित किया। उद्‌भट की यही पद्धति रूद्रट ने तथा आगे चलकर मम्मट नेथोडे बहुत परिवर्तन के साथ अपनायी है।

रीतियो का स्वरूप निरूपण करते हुए रूद्रट ने काव्यालकार मे स्पष्ट किया है—

द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पच सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया।।[१]

रूद्रट के अनुसार पाञ्चाली वृत्ति दो—तीन पदो के समास वाली होती है। तात्पर्य यह है पाञ्चाली रीति मे समास एक से अधिक पदो वाले होते है, किन्तु तीन पदो से अधिक नही होते जबकि लाटीया पाच—सात पदो वाली होती है। यह रुद्रट के अनुसार मध्यम कोटि की रीति होती है। गौडीया वृत्ति (सात से अधिक) यथा शक्ति जितने भी पदो के समास से युक्त हो सकती है। इसमे अत्यधिक क्लिष्ट पदावली का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार समास युक्त वृत्ति वाली तीनो रीतियो का स्वरूप निरूपण आचार्य रूद्रट ने अपने काव्यालकार मे किया है। पाचाली, लाटी, गौडी का स्वरूप—निरूपण करने के बाद आचार्य रूद्रट ने वैदर्भी रीति का स्वरूप बताया है—

आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।।[२]

---
१. काव्यालकार (रूद्रट), अ २/५
२ काव्यालकार (रूद्रट), अ २/६

अर्थात् क्रियाएँ उपसर्गो के साथ भी सयुक्त की जाती है। इससे उनके अर्थो मे विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है। समासरहित वृत्ति वैदर्भी होती है जो कि एक ही है। वैदर्भी रीति अत्यन्त सरल वृत्ति होती है। समास रहित होने के कारण यह अत्यन्त सुस्पष्ट होती है। सरलता और सरसता इसकी मुख्य विशेषता होती है।

रूद्रट ने पदो की समस्तता और असमस्तता के आधार पर रीति का निरूपण करके रीति के इतिहास मे एक नवीन उल्लेखनीय विचार प्रस्तुत किया है। उन्होने समास के सर्वथा अभाव मे वैदर्भी' रीति मानी, दो या तीन पदो के लघु समास मे पाञ्चाली रीति को स्वीकार किया तथा पाच या सात पदो के मध्य समास मे लाटीया और यथाशक्ति दीर्घ समास मे गौडीया रीति को माना है। इस तरह उन्होने दण्डी, वामन, आदि के द्वारा प्रतिपादित गुण रूप रीति के आधार को अस्वीकार कर दिया।

रस विशेष के साथ रीति विशेष का सम्बन्ध दिखलाकर रूद्रट ने एक और नई उद्भावना की है। उनके अनुसार वैदर्भी और पाञ्चाली की रचना, जिसमे माधुर्य और सौकुमार्य की अभिव्यक्ति होती है, श्रृगार, प्रेय, करूण, भयानक और अद्भुत रसो के साथ गौडी और लाटी की रचना, जहॉ ओज गुा पाया जाता है, रौद्र के साथ होनी चाहिए।[1]

इस प्रकार आचार्य रूद्रट ने रीति के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया और 'लाटीया' नामक चतुर्थ वृत्ति की स्थापना की।[2] आचार्य रूद्रट के अनुसार समास को ही रीति का मूल तत्त्व माना जा सकता है। लघु, मध्य तथा दीर्घ समास के आधार पर पाचाली, लाटीया और गौडीया रीति तथा समास के अभाव में वैदर्भी रीति की सत्ता का उल्लेख करते हुए उन्होने स्वय इस बात की ओर सकेत किया।[3] इस प्रकार आचार्य रूद्रट ने देश–भेद के आधार पर रीति या वृत्ति–भेद को अस्वीकार किया वही 'गुण' नामक तत्त्व को भी रीति भेद का आधार स्वीकार करने से मना कर दिया और समास के आधार पर अपने वृत्ति भेद का निरूपण किया।

---

१ काव्यात्म मीमासा पृ १५२

२ आधुनिक सस्कृत काव्यशास्त्र, पृ २२२

३ सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियॉ, पृ २६–३०

(ग) कवि स्वभाव पर आधारित काव्यमार्ग

कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य के सामान्य लक्षण को प्रस्तुत करने के अनन्तर उसके विशेष लक्षण का विषय प्रदर्शित करने के लिए मार्गों के त्रैविध्य को प्रस्तुत किया है। मार्गों को उन्हीं के कवि–प्रस्थान के हेतुभूत अर्थात् काव्य रचना के कारण भूत स्वीकार किया है। जिसे कुन्तक ने मार्ग संज्ञा दी है उसे ही प्राचीन वामनादि आचार्यों ने रीति कहा था।[१], यद्यपि दण्डी ने भी मार्ग ही कहा था।[२] भोजराज ने मार्ग और रीति दोनों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लेकर समन्वय प्रस्तुत किया[३] जैसा कि हम 'प्रदेश आधारित काव्य मार्ग' प्रकरण में भोज के विचारों का वर्णन करते समय कह चुके हैं।

मार्ग विभाजन का आधार

कुन्तक ने अपने मार्ग विभाजन का आधार कवि–स्वभाव को स्वीकार किया है। उन्होंने अपने मत को प्रस्तुत करने के पूर्व पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत विदर्भादि देश–विशेषों के समाश्रयण से किये गये वैदर्भी आदि रीतियों अथवा वैदर्भ आदि मार्गों के विभाजन का खण्डन किया है। अतः इस बात का पहले विवेचन कर लेना आवश्यक है कि वे कौन से पूर्वाचार्य हैं जिनके अभिमतों का कुन्तक ने खण्डन प्रस्तुत किया है ? आचार्य भरत ने मार्गों अथवा रीतियों का कोई विवेचन किया ही नही। उन्होंने प्रवृत्तियों के रूप में उनका उल्लेख किया है, जैसा कि हम भरत के विचारों को प्रस्तुत करते समय कह चुके हैं। भामह यद्यपि मार्ग अथवा रीति का उच्चारण नहीं करते, परन्तु वैदर्भ और गौडीय काव्य का उल्लेख अवश्य

---

१. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति. १/२/६
२. काव्यादर्श १/४०
३. सरस्वती कण्ठाभरण २/२७

करते है। उन्हे ऐसा विभाजन स्वीकार नही है। वे ऐसा स्वीकार करने को गतानुगतिकता अथवा मूर्खता कहते है।[१] सम्भवत उनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने विदर्भ आदि देशो के आधार पर काव्य को वैदर्भ और गौडीय रूप मे विभाजित किया था तथा वैदर्भ को श्रेष्ठ तथा गौडीय को हेय बताया था। भामह इस बात का खण्डन कर कुछ ऐसी विशेषताओ (अथवा कुन्तकादि के शब्दो मे मार्ग गुणो) का निर्देश करते है जिनके विद्यमान रहने पर गौडीय काव्य भी ग्राह्य एव रमणीय होता है जबकि उन विशेषताओ के अभाव मे वैदर्भ काव्य भी हेय होता है। वे विशेषताएँ है– पुष्टार्थता, वक्रोक्ति, युक्तता, अग्राम्यता, न्याय्यत्व और अनाकूलता।[२]

बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्तक को देश विशेष के समाश्रयण पर किये गये मार्गो के विभाजन एव उनके उत्तमत्व, अधमत्वादि का खण्डन करने की प्रेरणा भामह के इसी विवेचन से प्राप्त हुई हो। आचार्य दण्डी यद्यपि यह स्वीकार करते है कि वाणी के मार्ग प्रत्येक कवि मे स्थित होने के कारण अनेक है जिनका कि कथन असम्भव है फिर भी देशो के आधार पर अत्यन्त स्फुट अन्तर वाले वैदर्भ और गौडीय मार्ग का वर्णन करते है।[३] वे स्पष्ट उल्लेख करते है कि पौरस्त्य लोगो की काव्य पद्धति गौडीय मार्ग का वर्णन करते है।[४] साथ ही अपना स्वारस्य भी वैदर्भ मार्ग के प्रति अभिव्यक्त करते है, क्योकि श्लेष आदि दस गुणो को उन्होने वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है जबकि गौडीय मार्ग मे उन गुणो का प्राय विपर्यय प्राप्त होता है।[५] इस प्रकार इस बात को स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा कि दण्डी की दृष्टि मे वैदर्भ मार्ग उत्तम तथा गौडीय मार्ग अधम है। अत इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कुन्तक जब देश विशेष के आधार पर किये गये वैदर्भ एव गौडीय मार्गो के विभाजन का खण्डन करते

---

१. काव्यालकार (भामह)– १/३२
२ काव्यालकार (भामह)– १/३२
३ काव्यादर्श, १/४०, १०१
४ काव्यादर्श १/५०, ६०, ८०, ८३
५ काव्यादर्श, १/४२

है तो स्पष्ट ही वे दण्डी के विचारो का खण्डन करते है। अब प्रश्न उठता है कि किन आचार्यो ने देश–विशेष के आधार पर वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली तीन रीतियो का विभाजन किया था, जिसका कि कुन्तक खण्डन करते है। अधिकतर विद्वानो का विचार है कि कुन्तक यही पर वामन के अभिमत का खण्डन करते है। डा नगेन्द्र का कथन है–

'कुन्तक ने अपनी अमोघ शैली मे मार्गो के प्रादेशिक आधार का तो तिरस्कार ही किया है– साथ ही अपने व्यग्य की लपेट मे वामन को भी ले लिया है।[1] तथा उन्होने वामन के आशय को अशुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा वामन के सिद्धान्त का सम्यक् अध्ययन नही किया। वामन ने स्वय ही प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है। उनकी रीतियो का आधार गुणात्मक है। अत वामन के साथ कुन्तक ने न्याय नही किया और एक उडती हुई बात को लेकर उन पर आक्षेप किया है।[2] कुन्तक ने वामन पर प्रादेशिक आधार पर मान्यता देने का दोषारोपण किया है, पर वह उनका भ्रम है। वामन ने स्पष्ट शब्दो मे प्रादेशिक आधार का निषेध किया है।[3]

वस्तुत डा नागेन्द्र का यह अभिमत मान्य नही। यदि डा नगेन्द्र के ही शब्दो मे कहा जाय तो उन्होने कुन्तक के आशय को अशुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा कुन्तक के सिद्धान्त का समयक् अध्ययन नही किया। कुन्तक ने कही भी वामन का नाम्ना निर्देश नही किया है। अत डा नगेन्द्र के उपरोक्त कथन को कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि उन्होने वामन की आलोचना की है। वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली तीन रीतियो का विवेचन करने वाले आचार्य केवल वामन ही नही हैं, राजशेखर ने भी केवल इन्हीं तीन रीतियो का उल्लेख किया है। साथ ही वामन के रीति विवेचन से यह स्वयं ही सुस्पष्ट है कि उनसे पूर्ववर्ती आचार्यो ने भी

---

१ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका भाग २, पृ ३५०
२ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका भाग २, पृ ३५३
३ वही, पृ ३६६, ३७०

रीति का विवेचन कर रखा है, क्योकि वामन ने केवल वैदर्भी रीति को ही समग्र गुण सम्पन्नता के कारण ग्राह्यता स्वीकार करते है। अन्य दो रीतियो को स्तोकगुणता के कारण अग्राह्य बताते है।[1] उनके पूर्ववर्ती कुछ आचार्यो ने गौडीया और पाञ्चाली रीति का अभ्यास वैदर्भी–सन्दर्भ की सिद्धि के लिए आवश्यक बताया था। वामन उनके अभिमत का खण्डन करते है और कहते है कि अतत्व के परिशीलन से तत्त्व की निष्पत्ति नही होती।

जैसे कोई जुलाहा यदि रेशमी सूत्रो के बुनने के लिए सन् के सूत्रो के बुनने का अभ्यास करता है तो उसे रेशमी सूत्रो के बुनने का वैशिष्ट्य नही प्राप्त हो जाता।[2] यह कोई आवश्यक नही कि वामन द्वारा उल्लिखित आचार्यो के ग्रन्थ आज की तरह कुन्तक के समय मे भी अनुपलब्ध रहे हो। यदि वामन ने रीति विभाजन के प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है और यह स्वीकार किया है कि देशो से कोई काव्य का उपकार नही होता।[3] तो कुन्तक ने भी तो उनके अभिमत को समादृत किया है और कहा है कि केवल देश–विशेष के आश्रयण पर नामकरण करने के विषय मे ही हमाराविवाद नहीं है।[4] अत वामन के पूर्ववर्ती किन आचार्यो ने देशो के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियो का विभाजन किया था, कुछ कहा नही जा सकता। हॉ उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजशेखर ने भी रीतियो का विभाजन देशो के आधार पर ही किया है। उन्होने जिस काव्य पुरूष के रूपक के द्वारा काव्य–तत्त्वो का विवेचन किया है उससे यह तथ्य सामने आता है। 'काव्यमीमासा' के अट्ठारह अधिकरणो मे से केवल प्रथम अधिकरण ही प्राप्त होता है। यह हम लोगो का दुर्भाग्य ही है। राजशेखर ने रीतियो का विस्तृत विवेचन तो तृतीय अधिकरण मे किया होगा। जैसा कि वे कहते है–

---

१ काव्यालकार सूत्र वृत्ति, १/२/१४–१५
२ वही, १/२/१६–१८
३ विदर्भगौडपाचालेषु देशेषु तत्रत्यै कविभिर्यथा स्वरूपमुपलब्धत्वात्तद्देश समाख्या। न पुनर्देशै किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्। – काव्यलकार सूत्र वृत्ति १/२/१०
४ तदेव निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वेदेशविशेषाश्रयणस्य वय न विवादामहे।
– वक्रोक्तिजीवित, पृ ४६

रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।[1]

फिर भी जो तथ्य ऊपर उद्घाटित किया गया है वह उनके प्रथम अधिकरण के विवेचन से ही सामने आ जाता है। इस अधिकरण मे वर्णन है कि 'काव्य पुरूष जिस–जिस देश मे गया और उसके पीछे–पीछे गयी 'साहित्यविद्यावधू' ने जिस–जिस प्रकार की वेशभूषा धारण की और गीत वाद्यादि से उसे रिझाया, उसके परिणामस्वरूप काव्य पुरूष ने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया, उसे इसी देश के नाम पर अभिहित किया गया, फलत गौडी पाञ्चाली और वैदर्भी– ये तीन रीतियॉ बनी।

इस विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट है कि राजशेखर द्वारा किया गया रीतियो का विवेचन (विभाजन) पूर्णतया देशो पर आधारित है। इतना ही नही उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि मे वैदर्भी उत्तम, गौडीया अधम और पाञ्चाली मध्यम कोटि की रीति है।

देश–विशेष के आधार पर किये गये वैदर्भी आदि रीतियो के विभाजन का खण्डन करने मे कुन्तक ने अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किये–

१ यदि देश भेद को रीति भेद का कारण स्वीकार किया जायेगा तो देशो के अनन्त होने के कारण रीतिया भी अनन्त होने लगेगी, और ऐसी अवस्था मे रीतियो का परिगणन असम्भव हो जायेगा। केवल तीन ही रीतिया स्वीकार करना अनुचित है। यद्यपि स्वय राजशेखर ने भी इस सन्देह को अन्य आचार्यों की ओर से प्रस्तुत किया था, लेकिन उसका उत्तर उन्होने यही दिया कि देश तो अनन्त अवश्य है, किन्तु उनके चार विभागो की ही कल्पना की गयी है। सामान्यत चक्रवर्ती क्षेत्र एक ही स्वीकार किया गया है, यद्यपि वह अपने अवान्तरविभेदो से तो अनन्त होता ही है।[2] स्पष्ट है कि राजशेखर का यह उत्तर समीचीन नही है। वैदर्भी रीति के कवि किसी एक क्षेत्र विशेष मे ही उपलब्ध हो यह निश्चित नही। उनकी

---

१ काव्यमीमासा, पृ ५०

२ काव्यमीमासा, पृ ४९–५०

उपलब्धि सर्वत्र विदर्भ क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र मे भी सम्भव हो सकती है। आचार्य कुन्तक नेकवि स्वभाव के आधार पर मार्गों का वर्गीकरण किया है और यह सन्देह भी उन्होने स्वय उठाया है कि यद्यपि कवि स्वभाव को भी मार्ग विभाजन का आधार स्वीकार करने पर कवि स्वभाव के अनन्त होने के कारण मार्गो का आनन्त्य अनिवार्य है, फिर भी उनकी गणना के अशक्य होने के कारण सामान्यत त्रैविध्य ही युक्ति सगत है।[1] डा हरदत्त शर्मा ने निर्देश किया है कि कोई भी व्यक्ति यहॉ कुन्तक के विवेचन मे भी दोष दिखा सकता है जिसे स्वय कुन्तक ने भौगोलिक आधार पर किये गये रीतियो के त्रिविधि विभाजन मे दिखाया है।

परन्तु डा शर्मा का यह कथन समीचीन नही प्रतीत होता। विदर्भ देश की प्राप्ति पाञ्चाल अथवा गौडीय देश मे नही हो सकती, क्योकि देश का क्षेत्र सीमित होता है, लेकिन सुकुमार अथवा विचित्र स्वभाव वाला कवि कही भी उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार भौगोलिक आधार पर किये गये त्रिविध विभाजन के आधार पर कवियो के सही काव्य स्वरूप का मूल्याकन नही किया जा सकता, क्योकि यदि पाञ्चाल देश मे भी वैदर्भी रीति का काव्य प्राप्त होता है तो बाध्य होकर भौगोलिक आधार पर उसे वैदर्भी रीति का काव्य न कहकर पाञ्चाली रीति का काव्य कहना पडेगा, क्योकि भौगोलिक आधार पर किया गया विभाजन क्षेत्र सीमित होगा। अपनी सीमा सेपरे उसकी कोई सत्ता नही होगी और इस तरह काव्य की रीतियो का सही स्वरूप निरूपण नहीं हो सकेगा। जब कि स्वभाव के आधार पर किये गये विभाजन मे यह दोष नहीं। स्वभाव तो प्राय एक दूसरे के मिल जाया करते है और ऐसी दशा मे जहॉ जिस देश मे भी जिस स्वभाव का कवि होगा उसे उस मार्ग का कहने मे कोई आपत्ति नही होगी। अत स्पष्ट है कि कवि–स्वभाव तथा भौगोलिक दोनो आधारो पर किये गये रीति विभाजन से एक ही दोष दिखाना भ्रान्ति के सिवा कुछ नही है।

---

१ यद्यपि कविस्वभाव भेद निबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते। –वक्रोक्ति जीवित, पृ ४७

२ कुन्तक का दूसरा तर्क है कि काव्य रचना किसी देश का धर्म नही होती, जिससे यह कहा जा सके कि वैदर्भी रीति विदर्भ देश का धर्म है अथवा गौडीया गौड देश का। जैसे ममेरी बहन का विवाह दक्षिण के किसी देश मे होता है सर्वत्र नही अत उसे देश धर्म कहा जा सकता है और देश के आधार पर उसकी व्यवस्था भी मान्य होगी, क्योकि देश धर्म केवल वृद्धो की व्यवहार परम्परा पर आधारित होती है अत उसका उस देश विशेष मे अनुष्ठान अशक्य नही, लेकिन काव्य रचना का तो शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास रूप कारण सामग्री की आवश्यकता होती है, उसका किसी देश के साथ कैसा सम्बन्ध ? यदि कोई यह कहना चाहे कि जिस प्रकार से दाक्षिणात्यो की सगीत विषयक सुस्वरता आदि ध्वनि की रमणीयता स्वाभाविक हुआ करती है वैसे ही काव्य रचना भी स्वाभाविक होगी तो यह कहना उचित नहीं क्योकि ऐसा स्वीकार कर लेने पर फिर सभी को वैसी ही काव्य रचना कर लेनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। यदि शक्ति को कथमपि दुर्जनतोषन्याय से— स्वाभाविक मान भी लिया जाय तो व्युत्पत्ति और अभ्यास जो काव्य रचना के कारणभूत है, उनकी क्या व्यवस्था होगी ? उनकी तो किसी देश विशेष मे नियत व्यवस्था नही होती है। जिस व्युत्पत्ति और अभ्यास को जिस देश का धर्म स्वीकार किया जाता है वहाँ बहुतो मे वह दिखाई नही पडता जबकि उससे भिन्न दूसरे देश मे भी देखा जाता है। अत देशो के आधार पर किया गया वैदर्भी आदि रीतियो एव वैदर्भ आदि मार्गों का विभाजन असगत एव अमान्य है। वामन ने भी तो इसे स्वीकार किया है कि देशो से काव्यो का कोई उपकार नही होता।[1]

इस प्रकार कुन्तक देशो के आधार पर किये गये मार्गों एव रीतियो के विभाजन को अनुचित सिद्ध कर मार्गों के विभाजन की व्यवस्था कवि स्वभाव के आधार पर करते है। उनका कहना है कि जिस स्वभाव का कवि होता है उसी के अनुरूप उसकी सहज शक्ति समुत्पन्न होती है क्योकि

---

१ न पुनर्देशै किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।

—काव्यालकार सूत्र वृत्ति, १/२/१० पर वृत्ति)

शक्ति और शक्तिमान मे अभेद होता है। जैसे अग्नि शक्तिमान है दाहकत्व उसकी शक्ति। अग्नि और दाहकत्व मे अभेद है। शक्ति के अनुरूप ही कवि व्युत्पत्ति प्राप्त करता है और फिर उसी शक्ति तथा व्युत्पत्ति के द्वारा उसके अनुरूप मार्ग से काव्यरचना के अभ्यास मे तत्पर होता है। सुकुमार स्वभाव कवि को उसके स्वभाव के अनुरूप सुकुमार शक्ति प्राप्त होती है। उसी के अनुरूप वह सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है और फिर उसी शक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा सुकुमार मार्ग से काव्य रचना का अभ्यास करता है। इसी प्रकार जिस कवि का स्वभाव विचित्र होता है, वह भी काव्य के सहृदयाह्लादकारी होने के कारण सौकुमार्य से व्यतिरेकि वैचित्र्य से रमणीय ही होता है। उसी के अनुरूप उसको कोई विचित्र ही शक्ति समुल्लसित होती है। उस विचित्र शक्ति के द्वारा वह उसी प्रकार के वैदग्ध्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है तथा उसकी शक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा वैचित्र्य की वासना से अधिवासित चित्त ही विचित्र मार्ग से काव्य रचना के अभ्यास मे तत्पर होता है। इसी प्रकार जिसका स्वभाव सुकुमार एव विचित्र मार्ग के कवियो के मूलभूत स्वभाव से सवलित होता है उसी के अनुरूप उसकी सबल सौन्दर्यातिशय से सुशोभित होने वाली शक्ति समुल्लसित होती है। उस शक्ति के द्वारा वह सुकुमार एव विचित्र दोनो स्वभावो से सुन्दर व्युत्पत्ति अर्जित कर दोनो की कान्ति के परिपोष से मनोहर मार्ग द्वारा काव्य रचना के अभ्यास मे तत्पर होता है। इस प्रकार ये तीन प्रकार के कवि तीन प्रकार के सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक रमणीय काव्यो की रचना करते है।[१] यहॉ किसी को यह सन्देह हो सकता है कि शक्ति की स्वाभाविकता तो ठीक है, क्योकि वह आन्तरिक हुआ करती है, लेकिन व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता कैसे मानी जाय जबकि ये दोनो आहार्य होते है ? कुन्तक ने बडे ही तर्कपूर्ण ढग से इस सन्देह का निवारण किया है। उनका कहना है कि काव्य रचना की बात दूर रही, अन्य विषयो मे भी ऐसा देखा जाता है कि अनादि वासना के अभ्यास

---

१ वक्रोक्तिजीवित, पृ ४६–४७

से अधिवासित चित्त वाले सभी किसी की व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभावानुसारी ही हुआ करते है। स्वभाव तथा व्युत्पत्ति एव अभ्यास मे परस्पर उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध होता है। स्वभाव की अभिव्यञ्जना कराने से ही व्युत्पत्ति और अभ्यास सफल होते है। स्वभाव उन दोनो को आरम्भ करता है और वे दोनो स्वभाव को परिपुष्ट करते है। इस विषय मे चेतन पदार्थो की बात तो दूर रही, अचेतन पदार्थो की सत्ता भी अपनी सत्ता के अनुरूप अन्य सत्ता के सन्निधान से अभिव्यक्त हो उठती है। जैसे चन्द्रकान्त मणियॉ चन्द्र किरणो के स्पर्श से स्वाभाविक जल प्रवाहित करने लगती है। अत यह सिद्ध होता है कि स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति और अभ्यास भी हुआ करते है और इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जिस स्वभाव का कवि होता है उसी के अनुरूप उसका काव्य भी होता है।[1] यद्यपि राजशेखर ने रीतियो का विभाजन देश के आधार पर अवश्य किया है लेकिन इस बात को वे भी स्वीकार करते है कि काव्य कवि स्वभाव के अनुरूप ही होता है। जैसा कवि वैसा काव्य जैसा चित्रकार वैसा चित्र—

'स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूप काव्यम्।

यादृशाकारश्चित्रक -स्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः।[2]

इस प्रकार कुन्तक द्वारा मार्ग विभाजन के आधार रूप मे स्वीकार किये गये कवि स्वभाव की समीचीनता को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। साथ ही कवि स्वभाव के आधार पर कुन्तक ने जो सुकुमार, विचित्र और मध्यम नाम रखे है। वे ही समीचीन भी है, लेकिन वैदर्भी आदि नामो को सर्वथा असमीचीन भी कहना उचित नहीं। वस्तुत जब आचार्यो ने प्रारम्भ मे इनका नामकरण किया होगा, उस समय उसका आधार देश ही रहा होगा। विदर्भ मे प्राप्त होने वाले कवियो की रचना अधिकतर जिस रूप मे रही होगी, उसे प्राधान्य के कारण वैदर्भी कहा होगा। इसी तरह गौडीया और पाञ्चाली का भी नामकरण हुआ होगा और उस प्रारम्भिक समय की

१ वक्रोक्ति जीवित, पृ ४७

२ काव्यमीमासा, पृ १६०

दृष्टि से उसकी समीचीनता को अमान्य नही ठहराया जा सकता। हॉ, आगे चलकर जब विभिन्न देशो के कवियो ने यथारूचि भिन्न–भिन्न मार्गो का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया और विदर्भ क्षेत्र मे भी गौडीया और गौड क्षेत्र मे भी वैदर्भी रीति के काव्यो की रचना होने लगी। उस समय इस देश के आधार पर किये जाने वाले विभाजन की अनुपयुक्तता सामने आयी । इसकी ओर स्पष्ट ही वामन ने निर्देश किया है और उनसे भी पहले भामह का भी निर्देश इसी ओर स्वीकार किया जा सकता है। अन्त मे राजनक कुन्तक ने कवि स्वभाव को मार्ग विभाजन का आधार स्वीकार कर तथा मार्गो को सुकुमार, विचित्र एव मध्यम की सज्ञा प्रदान कर एक समुचित व्यवस्था की, परन्तु जो परवर्ती आचार्यो ने उसे आगे चलकर स्वीकार नही किया, भामह के शब्दो मे उसे गतानुगतिकता ही कहा जा सकता है।

रीतियों का (उत्तमाधममध्यमत्व) तारतम्य

आचार्य कुन्तक ने देश भेद के आधार पर किये गये रीतियो अथवा मार्गो के विभाजन का खण्डन कर रीतियो के उत्तम, मध्यम और अधम रूप विभाजन का भी खण्डन प्रस्तुत किया है। उन्हे आह्लाद की कोटियॉ मानना अभिप्रेत नही है। आचार्य दण्डी की दृष्टि मे वैदर्भ मार्ग उत्तम है और गौडीय मार्ग अधम है, क्योकि श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है जबकि गौडीय मार्ग मे इनका विपर्यय दिखाई पडता है।[१] यद्यपि दण्डी ने उत्तम अथवा अधम का शब्दत प्रयोग वैदर्भ और गौडीय मार्ग के लिए नही किया है। तदनन्तर आचार्य वामन ने भी समग्र गुणो से सम्पन्न होने के कारण वैदर्भी को ही ग्राह्य बताया। शेष दोनो गौडीया और पाञ्चाली रीतियो को उन्होने थोडे गुणो वाली होने के कारण हेय कहा।[२] लेकिन वामन के इस विवेचन से रीतियो की उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियॉ सामने नही आतीं, क्योकि यदि वैदर्भी को उत्तम कोटि मे रख भी लिया जाय तो पाञ्चाली और गौडीया दोनो एक ही, मध्यम अथवा अधम कोटि

१ काव्यादर्श, १/४२

२ काव्यालड्कार सूत्र वृत्ति १/२/१४–१५

मे आ जायेगी। वामन ने इन दोनो मे कोई तारतम्य नहीं स्थापित किया है। अत यह कल्पना कि रीतियो के तारतम्य का खण्डन करते समय भी कुन्तक वामन का ही खण्डन कर रहे है, कुछ समीचीन नही प्रतीत होता। वामन तो स्वय जोरदार शब्दो मे गौडीया और पाचाली रीतियो के अभ्यास का निषेध करते है और उन आचार्यो के मतो का खण्डन करते है जो वैदर्भी की सन्दर्भ सिद्धि के लिए गौडीया और पाञ्चाली के अभ्यास को स्वीकार करते है।[1]

राजशेखर के रीति विषयक चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए यह सम्भावना व्यक्त की जा चुकी है कि उनकी दृष्टि मे तो वैदर्भी उत्तम, पाञ्चाली मध्यम और गौडीया अधम रीति के रूप मे सामने आती है। अत या तो यह तारतम्य का खण्डन कुन्तक ने राजशेखर के अभिमत को दृष्टि मे रखकर प्रस्तुत किया होगा अथवा राजशेखर तथा वामन दोनो से भिन्न किसी अन्य आचार्य के मत का खण्डन किया होगा, जिसका कि ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। कुन्तक ने रीतियो के तारतम्य का खण्डन करते समय यह तर्क प्रस्तुत किया है कि काव्य की काव्यता तभी सम्भव है जबकि वह सहृदयो को आह्लादित करने मे समर्थ हो और यह सहृदयाह्लादरमणीय काव्य के द्वारा ही सम्भव है। जो रमणीयता वैदर्भी मे विद्यमान रहती है वह पाञ्चाली और गौडीया मे सर्वथा असम्भव है। अत कोई भी सहृदय वैदर्भी रीति को छोड अन्य रीतियो का समाश्रयण क्यो करेगा ? अत वैदर्भी के आगे पाचाली और गौडीया रीतियो का उपदेश करना ही व्यर्थ सिद्ध होगा, क्योकि वे वैदर्भी की अपेक्षा मध्यम और अधम हैं, उनमे वैदर्भी की रमणीयता असम्भव है। यदि कोई यह कहे कि उन दोनो रीतियो का उपदेश तो उनका परिहार करने के लिए किया गया है तो वह भी ठीक नही, क्योकि ऐसा स्वय रीतियो का विवेचन करने वाले आचार्यो ने ही स्वीकार नहीं किया। फिर काव्य रचना कोई दरिद्र का दान तो है नही कि जितना हो सके उतना दे दिया जाय और ग्रहीता उसे स्वीकार कर ले।

---

१ काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १/२/१६–१८

यदि किसी को कवि बनना है, काव्य की रचना करनी है तो उत्तम कोटि का ही काव्य प्रस्तुत करे, जिससे सहृदयो को आनन्दोपलब्धि हो सके। काव्य मर्मज्ञ सहृदय कोई महापात्र तो है नही कि जैसी भी रचना मिल जाय, उसी का आस्वादन करने को तैयार हो जाय और झूठे ही सिर हिला दे।[1] इसीलिए तो भामह ने कहा था कि अकवि होना किसी अधर्म या व्याधि अथवा दण्ड के लिए नही होता लेकिन कुकवि होना तो साक्षात् मृत्यु है।[2] राजशेखर ने भी यही कहा है—

'वरमकविर्न पुन· कुकवि· स्यात्। कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्।[3]

अत काव्य वही होगा जो उत्तम कोटि का होगा। अन्यथा वह काव्य होगा ही नही। अधम और मध्यम कोटि के काव्य का काव्यतत्त्व तो कुन्तक को मान्य ही नहीं। इसलिए रीतियो का उत्तम, मध्यम और अधम रूप मे विभाजन आचार्य कुन्तक की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। आचार्य कुन्तक का सुकुमार मार्ग यदि रमणीय है तो विचित्र और मध्यम उससे पीछे नही, वे भी रमणीय है। कवियो की वे ही रचनाए काव्य कहलाने की अधिकारिणी होती है जो काव्य की समस्त साधन सामग्री के चरम प्रकर्ष से निष्पन्न होकर रमणीयता को प्रस्तुत करती है, और इस प्रकार के काव्यो के तीन प्रकार है—

१ सुकुमार काव्य

२ विचित्र काव्य

३ मध्यम काव्य अथवा उभयात्मक काव्य।

कवियो की प्रवृत्ति के निमित्त होने के कारण ये ही तीन सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग कहे जाते है। जब रमणीय काव्य के परिग्रह का

---

१. वक्रोक्ति जीवित, पृ ४६

२ नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्व पुन साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिण ।। — काव्यालकार (भामह), १/१२

३ काव्यमीमासा, पृ ६७

प्रस्ताव होता है तो सामने तीन राशियॉ उपस्थित होती है– १ सुकुमार स्वभाव–राशि, उससे व्यतिरिक्त अरमणीय काव्य नही हो सकता। २ उससे व्यतिरिक्त रमणीताविशिष्ट दूसरी राशि है– विचित्र। ये दोनो ही रमणीय होते है। अत इन दोनो की सम्मिलित छाया से सम्पन्न होने वाले मध्यम मार्ग की रमणीयता तो स्वत सिद्ध है। इस प्रकार कोई भी मार्ग एक दूसरे से न्यून नही है। किसी की भी न्यूनता की कल्पना बिल्कुल व्यर्थ है।[1]

मार्गो का स्वरूप

आचार्य कुन्तक का मार्ग स्वरूप निरूपण इन समस्त आचार्यो से सर्वथा भिन्न और मौलिक है। उन्होने गुणो अथवा समास या अनुप्रास आदि को मार्गो के स्वरूप निरूपण करने वाले तत्त्वो के रूप मे नही स्वीकार किया बल्कि कवि कौशल, कवि स्वभाव अथवा कवि की शक्ति, व्युत्पत्ति आर अभ्यास को मार्गो क भेदक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया और इसीलिए उनके मार्गों का स्वरूप–निरूपण प्रामाणिक एव युक्ति सगत है।

२. सुकुमार मार्ग

सुकुमार मार्ग मे कवि की सहज शक्ति का अद्भुत विलास विद्यमान रहता है। इसमे जो कुछ भी वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति का चमत्कार होता है, वह सब कवि–प्रतिभा–जन्य होता है, अहार्य नही होता। साथ ही सौकुमार्य को तद्विदाह्लादकारित्व रूप रमणीयता से रसमय होता है। इसमे कवि को किसी अनिर्वचनीय एव अम्लान प्रतिभा से अपने आप, बिना किसी प्रयत्न के नवीन अकुर के समान समुल्लसित होने वाले एव सहृदयो को आह्लादित करने मे समर्थ शब्दो एव अर्थो की रमणीयता विराजमान रहती है। अलकारो का बहुत थोडा एव सहृदय–हृदय को लुभा लेने वाला प्रयोग होता है और वह भी बिना किसी प्रयत्न के ही विरचित अलकारो का जो कि केवल कवि प्रतिभा के माहात्म्य से अपने आप उपस्थित हो जाते है।

---

१ वक्रोक्ति जीवित, पृ ४७

यमक से भिन्न अन्य अलकारो के विषय मे सहृदय शिरोमणि आचार्य आनन्दवर्धन ने ठीक ही तो कहा था कि—

'अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि
रससमाहितचेतसः प्रतिभानवत. कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।'[1]

यदि कवि मे लोकोत्तर सहज शक्ति विद्यमान है तो कैसे न अलकार उसके समक्ष अहमहमिकया उपस्थित होगे ? इसमे कवि शक्ति से समुल्लसित होने वाले पदार्थो के स्वभाव की ही ऐसी महिमा विद्यमान रहती है कि उसके आगे दूसरे काव्यो मे विद्यमान नाना प्रकार का व्युत्पत्ति विलास तिरस्कृत हो जाता है। इसमे विरचित वाक्यो का विन्यास श्रृगारादि रसो एव रत्यादि भावो के परमार्थ को समझने वाले सहृदयो के हृदयो के आह्लादित करने वाला होता है। इसमे विद्यमान कविकौशल केवल अनुभवगम्य ही होता है। वह सर्वातिशायी रूप मे केवल सहृदय के हृदय मे ही परिस्फुरित होता है, उसे किसी इयत्ता की सीमा मे बॉधकर अभिव्यक्त नही किया जा सकता। जैसे रमणियो के रमणीय लावण्य आदि का सर्वोत्कृष्ट निर्माण करने वाले विधाता का कौशल अनिर्वचनीय होता है। वैसे ही सुकुमार काव्य की रचना करने वाले कवि का कौशल भी अनिर्वचनीय होता है।

इस तरह सुकुमार मार्ग मे रस एव स्वभाव का ही साम्राज्य रहता है। अलकारो का वैचित्र्य भी रहता है, लेकिन वह यत्न साध्य न होकर सहज प्रतिभा जन्य होता है। कुन्तक ने इस मार्ग की उपमा विकसित कुसुमो वाले कानन से दी है और इस मार्ग पर विचरण करने वाले कवियो को भ्रमरो के सदृश निरूपित किया है। जिससे इस मार्ग का कुसुमो के सौकुमार्य के सदृश सार सग्रह का व्यसन द्योतित होता है।[2] आचार्य कुन्तक ने सुकुमार मार्ग का आश्रयण करने वाले कवियो मे महाकवि कालिदास एव सर्वसेन आदि का उल्लेख किया है।[3]

---

१ ध्वन्यालोक, पृ २२१—२२२
२ वक्रोक्तिजीवित, पृ १/२५—२६
३ वक्रोक्तिजीवित, पृ ७१

२. विचित्र मार्ग

जैसे सुकुमार मार्ग मे सहज सौकुमार्य का चरमोत्कर्ष विद्यमान रहता है वैसे ही विचित्र मार्ग मे वैचित्र्य की पराकाष्ठा समुल्लसित होती है। यदि सुकुमार मार्ग मे वस्तु स्वभाव और रस का साम्राज्य रहता है तो विचित्र मार्ग मे अलकार का एकाधिपत्य दिखायी पडता है। इसमे कवि–कौशल अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ होता है। यदि सुकुमार मार्ग के अनुप्राणक है– वस्तु स्वभाव और रस तो विचित्र मार्ग का प्राण है वक्रोक्ति का वैचित्र्य। विचित्र मार्ग तलवार की धार के समान है जिस पर चलने वाले विदग्ध कवि महान वीरो के मनोरथो के तुल्य है। इस मार्ग मे प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही शब्द तथा अर्थ के भीतर वक्रता स्फुटित सी होने लगती है। कहने का आशय यह है कि कवि प्रयत्न से निरपेक्ष हो शब्द तथा अर्थ का कोई स्वाभाविक वैचित्र्य झलकने लगता है। इस मार्ग मे कवि जन किसी एक अलकार से ही सतुष्ट न होकर उसके सौन्दर्य को और भी अधिक पुष्ट करने के लिए दूसरे अलकारो का उपनिबन्धन करते है जैसे जौहरी मुक्ताहार आदि मे पदकादि मणियो को जड देता है। इसमे अलकारो का ही ऐसा अपूर्व माहात्म्य विराजता है कि अलकार्य उसके सौन्दर्यातिशय मे अन्तर्निविष्ट होकर प्रकाशित होता है। जैसे कि मणियो की किरणच्छटाओ से देदीप्यमान अलकारो द्वारा आच्छादित कामिनी का शरीर प्रकाशित होता है। विचित्र मार्ग का यही तो वैचित्र्य होता है कि इसमे लोकोत्तर सौन्दर्यातिशय से युक्त अलकारो का विन्यास किसी अपूर्व वाक्य वक्रता को उन्मीलित करता है। इस मार्ग मे जिस वस्तु का नवीन रूप मे उल्लेख भी नही किया जाता, उसे केवल उक्ति–वैचित्र्य से ही किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया जाता है। साथ ही इस विचित्र मार्ग मे श्रेष्ठ कवि वस्तु के वास्तविक स्वरूप को अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से परिवर्तित कर प्रकरण के अनुरूप यथा रूचि कोई दूसरा ही सहृदयाह्लादकारी स्वरूप प्रदान कर देता है और वाच्य–वाचक वृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्यभूत किसी अनिर्वचनीय काव्यार्थ की अभिव्यक्ति

कराता है। साथ ही पदार्थों का रस निर्भर अभिप्राय से युक्त स्वरूप किसी लोकोत्तर एव मनोहारी वैचित्र्य से उत्तेजित करता है। अधिक क्या कहा जाय वक्रोक्ति अर्थात् अलकार का वैचित्र्य जिसके भीतर कोई अलौकिक अतिशयोक्ति परिस्फुरित होती है, इस विचित्र मार्ग का प्राणभूत दिखाई पडता है। कुन्तक ने जो इस मार्ग की उपमा खड्ग की धार से प्रस्तुत की है उससे इस मार्ग की दुर्गमता और उस पर चलने वालो की कुशलता द्योतित होती है।[१] इस मार्ग का अनुसरण करने वाले कवियो के रूप मे कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर का नामोल्लेख किया है।[२]

३. मध्यम मार्ग

अभी तक हम विवेचना कर चुके है कि सुकुमार मार्ग मे सहज सौकुमार्य एव शक्तिजन्य चमत्कार प्रधान होता है तथा विचित्र मार्ग मे आहार्य कौशल एव वक्रोक्ति वैचित्र्य का साम्राज्य रहता है, लेकिन मध्यम मार्ग मे, उसके उभयात्मक होने के कारण, सहज एव आहार्य दोनो प्रकार के कविकौशल से सुशोभित होने वाली वैचित्र्य एव सौकुमार्य की सकीर्णता शोभा पाती है। सुकुमार तथा विचित्र दोनो ही मार्गो की विशेषताये इसमे समान रूप से प्रतिस्पर्धा के साथ विद्यमान रहती है, किसी का न्यूनाधिकत्व नही होता। इस मार्ग मे दोनो की ही छाया से सम्पन्न मध्यम वृत्ति का आश्रयण कर अपूर्व जन्य सौन्दर्य को प्रस्तुत करते है। यह मार्ग सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम सभी प्रकार के प्रेमी सहृदयो का मनोहारी होता है। कान्तियो के वैचित्र्य से आह्लादजनक इस मार्ग के आश्रयण से कुछ कमनीय वस्तु के व्यसनी लोग ही काव्य रचना मे प्रवृत्त होते है जैसे नागर जन अग्राम्य एव विचित्र वेशभूषा की रचना मे समादृत बुद्धि होते है।[३] इस मार्ग से काव्य रचना करने वाले कवियो मे कुन्तक ने मातृगुप्त, मायुराज तथा मञ्जीर आदि का नामोल्लेख किया है।[४]

१ वक्रोक्तिजीवित, १/३४–४३
२ वक्रोक्तिजीवित, पृ ७१
३ वक्रोक्तिजीवित, १/४६–५२
४ वक्रोक्तिजीवित, पृ ७१

कुन्तक के मार्ग विवेचन की समीक्षा

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर कवि के सहज एव आहार्य कौशल की दृष्टि से सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन मार्गो का निरूपण किया है। इस प्रकार कुन्तक कृत मार्गो का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद उसकी समीक्षा करना भी आवश्यक है। कुछ आचार्यो ने आचार्य कुन्तक द्वारा स्वीकृत सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गो को क्रमश आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली के साथ एक रूप स्थापित किया है। प बलदेव उपाध्याय का कहना है कि कुन्तक ने वैदर्भी रीति के लिए 'सुकुमार मार्ग' का नाम लिया है। वे गौडी रीति को विचित्र मार्ग कहते है और पाञ्चाली रीति का अभिधान 'मध्यम मार्ग' बतलाते है।[1] डा लाहिरी ने भी वैदर्भी रीति और सुकुमार मार्ग को तथा गौडीया रीति और विचित्र मार्ग को एक रूप कहा है।

परन्तु उक्त मार्गो के स्वरूप विवेचन के अनन्तर इन विद्वानो के कथन की समीचीनता किसी भी तरह मान्य नही रह जाती। निदर्शनार्थ पहले सुकुमार और वैदर्भी पर ही दृष्टिपात करे। इन दोनो के स्वरूप निर्धारण के मौलिक आधार मे ही पर्याप्त अन्तर है। सुकुमार मार्ग कवि–स्वभाव, उसकी सहज शक्ति एव सहज कौशल पर आधारित है जबकि वैदर्भी के स्वरूप निर्धारण का आधार प्रदेश के अतिरिक्त सिवाय गुणो के और कुछ नहीं है। फिर उसमे सारे गुण विद्यमान रहते हे। फलत उसमे कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति अर्थात् उसके सहज और आहार्य दोनो ही कौशलो का चरमोत्कर्ष विद्यमान होना अर्थापत्ति से ही सिद्ध है। जबकि कुन्तक के सुकुमार मार्ग मे केवल सहज कौशल–जन्य चमत्कार का ही उत्कर्ष विद्यमान रहता है। जहॉ कुन्तक ने अपने सुकुमार मार्ग की उपमा, विकसित कुसुमो से युक्त कानन से दी है– और उस पर विचरण करने वालो का सादृश्य भ्रमर से स्थापित किया है, वहीं वैदर्भ मार्ग (अथवा रीति) के प्रशसक पद्मगुप्त परिमल ने उसकी उपमा तलवार की धार से दी है।

(१ भारतीय साहित्य शास्त्र भाग–२, पृ १३६)

जबकि कुन्तक विचित्र मार्ग की उपमा खड्ग की धार से देत है। यही सहृदयाह्लाद एव रसादि की बात, उसकी सत्ता का कथमपि निषेध कुन्तक के किसी भी मार्ग मे प्राप्त नही है। उनके सभी मार्ग एक समान सहृदयाह्लादकारी है। किसी की तनिक भी किसी से न्यूनता अथवा आधिक्य अभीष्ट नही। फिर भी वैदर्भी और सुकुमार मार्ग मे कुछ समानताओ का प्राप्त हो जाना असम्भव नही है, परन्तु उस थोडे से ही साम्य के आधार पर एक रूप मान बैठना तो कथमपि उचित नही है। गौडीया रीति और विचित्र मार्ग की तो कोई तुलना ही नही है। कहॉ एक हेय रीति गौडीया और कहॉ कवियो की विहरण–प्रौढि का परिचायक विचित्र मार्ग ? कहॉ केवल दो गुणो ओजस् और कान्ति के प्राधान्य वाली गौडीया और कहॉ समग्र गुणो के विचित्र विलास से सम्पन्न विचित्र मार्ग ? इसी प्रकार पाञ्चाली और मध्यम मार्ग की भी कोई तुलना नही है। अत यह कहना कि कुन्तक ने क्रमश वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली रीतियो को सुकुमार, विचित्र और मध्यम नाम दे दिया है, नितान्त भ्रम–मूलक है।

उपर्युक्त मत के अतिरिक्त एक अभिनव मत प्रस्तुत करते है– आचार्य नरेन्द्रसूरि। उनका कहना है कि कुन्तक ने माधुर्य गुण को सुकुमार, ओजस् को विचित्र और इन दोनो के मिश्रित्व से सम्भव होने वाले को मध्यम मार्ग कहा है–

'माधुर्य' सुकुमाराख्यं मार्गं केऽप्यवदन् बुधाः।

विचित्रमोजस्तन्मिश्रोभावजं मध्यमं पुनः।।[१]

इसकी वृत्ति मे वे कुन्तक का नाम्ना निर्देश करते है और वक्रोक्तिजीवित को सम्प्रति इत्यादि (१/२४) कारिका उद्घृत करते हैं–

"माधुर्य सुकुमाराभिधमोजो विचित्राभिध तदुभयमिश्रत्वसम्भव मध्यम नाम मार्ग केऽपि बुधा कुन्तु (न्त) कादयोऽवदनुक्तवन्त। पदाहु–

---

१ अलकार महोदधि– ६/२६

सम्प्रति तत्र सत्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।[1]

सूरि जी का यह कथन निश्चय ही भ्रान्तिमूलक है। उनकी इस भ्रान्ति का कारण है वैदर्भी आदि रीतियो एव सुकुमारादि मार्गो को एक समझ बैठना। यदि अलकार महोदधि के विषय विवेचन पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसका विवेचन कुन्तक के विवेचन का बहुत ऋणी है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सूरि जी ने इस ग्रन्थ मे वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्त को समन्वित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कुन्तक के ये कितने ऋणी है, इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। उक्त मत को प्रस्तुत करते समय वे ध्वनि सिद्धान्त के समर्थक मम्मट आदि का अनुसरण करते है। आचार्य मम्मट ने वृत्यनुप्रास का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उद्भट आदि ने माधुर्य के व्यञ्जक वर्णो से युक्त कोमला अथवा ग्राम्या वृत्तियो का निरूपण किया है।[2] और इन्ही को वामन आदि आचार्यो ने वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली रीतियाँ कहा है–

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः[3]

लेकिन यदि विचार किया जाय तो मम्मट का यह कथन स्वय समीचीन नही है। वामन की गौडीया को यथाकथचित् ओजस् को व्यञ्जक कह भी सकते है, क्योकि उसमे ओजस् और कान्ति गुण की प्रधानता वामन ने स्वीकार की है, लकिन वैदर्भी मे तो सारे गुण विद्यमान रहते है। अत उसकी केवल माधुर्य व्यञ्जकता कैसे स्वीकार की जायेगी ? साथ ही पाञ्चाली की माधुर्य व्यञ्जकता का निषेध कैसे होगा ? जिसमे कि माधुर्य गुण ही सौकुमार्य के साथ प्रधान रहता है। वामन ने पद सघटना को रीति अवश्य कहा है, लेकिन वह पद सघटना विशिष्ट अर्थात् गुणवती स्वीकार

१ अलकार महावधि, पृ २०१–२०२

२ काव्यप्रकाश, ६/८० तथा वृत्ति

३ काव्यप्रकाश, पृ ४०६

की गयी है। फिर भी वामन के अनुसार सारे गुण केवल वर्णो की विशिष्टता के प्रतिपादक नही है कि वर्णो की व्यञ्जकता उसमे स्वीकार की जाय। केवल समास के आधार पर रीति विभाजन रूद्रट ने किया है, लेकिन उन्होने चार रीतियॉ स्वीकार की है। अनुप्रासादि को रीति विभाजन की परिधि मे यद्यपि राजशेखर आदि ने अवश्य घसीटा है, परन्तु कैसे वर्णो का अनुप्रास किस रीति मे होना चाहिए इसका निर्देश नही किया गया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन जब स्वय सघटना की इस व्यञ्जकता अथवा गुण व्यञ्जकता का निरूपण करते है तो वहॉ उनकी सघटना वामन की रीतियो की समानार्थी नही है। उसे केवल रूद्रट की रीतियो के तुल्य स्वीकार किया जा सकता है जिसका कि गुणो से कोई भी सम्बन्ध उन्होने वर्णित नही किया। आनन्दवर्धन को उस सघटना और वामनाभिमत रीतियो के स्वरूप वैशिष्ट्य का पूर्ण ध्यान था तभी तो उन्होने उन दोनो का ऐक्य नही स्थापित किया और आगे चलकर स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि जिस ध्वनि तत्त्व का हमने स्वरूप–निरूपण किया है, वह जिन आचार्यो को अस्फुट रूप मे ही स्फुरित हुआ था। उन्होने उस ध्वनि तत्त्व का स्पष्ट निरूपण करने मे अपने को असमर्थ पाकर वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियो को प्रवर्तित कर दिया–

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।

अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।।[१]

साथ ही जैसा कि मम्मट ने प्रतिपादित किया है कि वामन की जो दस गुणो की कल्पना है, उनका माधुर्य ओजस् और प्रसाद तीन ही गुणो मे अन्तर्भाव हो जाता है। वैसा स्वीकार कर लेने पर भी वैदर्भी रीति की केवल माधुर्यव्यञ्जकता तो सिद्ध नही हो जाती, क्योकि यहॉ आचार्य वामन द्वारा समग्र गुणो की स्थिति स्वीकार करने के कारण माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीनो की ही अनिवार्य रूप से स्थिति होगी। अत रीतियो का ही

---

१ ध्वन्यालोक, ३/४६

माधुर्यादि गुण व्यञ्जक सघटना के अन्तर्गत अन्तर्भाव युक्तिसगत नही है तो सुकुमारादि मार्गो के अन्तर्भाव के विषय मे क्या कहा जाय ? जबकि वामन ने रीतियो को विशिष्ट पद सघटना ही सही, पदसघटना तो कहा था, लेकिन कुन्तक अपने मार्गो को पद सघटना नही कहते बल्कि उनके मार्ग काव्य रचना के कारणभूत अथवा काव्यो के स्वरूप ही है।[1] कुन्तक के गुण भी शब्द अथवा अर्थ के गुण न होकर बन्ध के गुण है। उन्हे गुणो की शब्दादि धर्मता नही स्वीकार है। वे उन्हे समुदाय का धर्म कहते है।[2] साहित्यदर्पणकार ने भी जिन रीतियो को रसादि की उपकारक स्वीकार किया है उनका स्वरूप वामन आदि द्वारा स्वीकृत वैदर्भी आदि रीतियो से सर्वथा भिन्न है। उनका विभाजन केवल समास तथा गुणो के व्यञ्जक वर्णो के आधार पर किया गया है।[3] अस्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने तो माधुर्यादि को ही सुकुमारादि मार्ग निरूपित किया है। ऐसा समन्वय करने मे अवश्य ही उनका विवेक त्रुटित हो गया है। उनके माधुर्य का मूलायतन श्रृगार है तथा ओजस् की लीला बिहार भूमि वीर रस है। परन्तु कुन्तक ने कही भी अपने सुकुमार मार्ग का मूलायतन श्रृगार को अथवा विचित्र मार्ग की लीला विहार भूमि वीर रस को स्वीकार नही किया। उनके सुकुमार मार्ग का आश्रयण करके भी कवि वीरादि समस्त रसो को प्रस्तुत कर सकता है और विचित्र मार्ग का आश्रयण करके भी श्रृगारादि रसो को सर्वोत्कृष्ट रूप से निरूपित कर सकता है। लगता तो कुछ ऐसा ही है कि सूरि जी साहित्य शास्त्र मे अपना योगदान दिखाने के चक्कर मे ऐसी भूल कर बैठे, क्योकि मम्मट आदि ने वामन आदि की रीतियो का अन्तर्भाव तो कर दिया, परन्तु कुन्तक के सुकुमारादि भागो का उल्लेख ही नही किया और सुकुमारादि की स्थापना कुन्तक ने वैदर्भी आदि रीतियो का खण्डन करके प्रस्तुत किया था। अत यह आवश्यक था कि उनका भी अन्तर्भाव किया जाता। इस अपूर्व योगदान का श्रेय सम्भवत सूरि जी ही ग्रहण करना चाहते थे और

---

१ वक्रोक्ति जीवित, पृ ४५ तथा ४७

२ वक्रोक्ति जीवित, पृ ७१

३ 'साहित्य दर्पण, ६/१–५ तथा वृत्ति

इसीलिए उसका अन्तर्भाव करने मे सूरि जी को प्राचीन आचार्यो द्वारा स्वीकृत माधुर्यादि की व्यञ्जक रचना से भिन्न 'विशेष व्यञ्जिका' रचना की कल्पना करनी पडी जबकि पूर्वाचार्यो के द्वारा स्वीकृत गुणादि व्यञ्जक रचना का स्वरूप सर्वथा इन्होने निरूपित किया है। उनमे से उनको माधुर्य की विशेष व्यञ्जिका रचना का स्वरूप कुन्तक के सुकुमार मार्ग के स्वरूप का अनुवादभूत है तथा ओजस् का व्यञ्जक गुम्फ विचित्र मार्ग का सक्षिप्त प्रतिरूप सा है। यहॉ उनकी इन विशेष व्यञ्जिका रचनाओ के उद्धरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी। उनकी माधुर्य की विशेष व्यञ्जिका रचना का स्वरूप है–

सहजप्रातिभोन्मीलद्वाच्यवाचकचारिया।

अक्लेशकल्पितस्वल्पतद्विदाह्लाद भूषणा।।

भावस्वाभाविकौदार्यतर्जिताहार्यकौशला।

अमन्दरसनिष्यन्दसुधोद्गारतरगिता।।

कविकर्मैकमर्मज्ञमनस्ताण्डवनाट्य भूः।

अलक्ष्यावयवा तस्मिन् रचना काचिदीदृशी।।[1]

इसकी तुलना जरा कुन्तक के सुकुमार मार्ग का निरुपण करने वाली अधोलिखित कारिकाओ से करे–

आलानंप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।

अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।।

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।

रसादिपरमार्थवमनः संवादसुन्दरः।।[2]

स्पष्ट ही सूरि जी ने अपनी रचना के स्वरूप निरूपण मे कुन्तक

---

१ अलकार महोदधि, ६/१८–२०

२ वक्रोक्ति जीवित १/२५–२६

द्वारा प्रयुक्त पदो मे हेरफेर कर अपनी अपूर्वता प्रदर्शित करने का असफल प्रयास किया है। अब इनके ओजस् गुण के व्यञ्जक गुम्फ के स्वरूप पर ध्यान दे—

परस्पर परिस्यूतपदद्रढिमबन्धुरः।

व्युत्पन्नप्रतिभोत्पन्नवाच्यवैचित्र्यचुम्बित ।।

उल्लसन्नवलावण्यभगिकल्लौललालितः·।

सूत्रयन्नवतामुच्चैरनवस्यापिवस्तुनः।।

वितन्वन् मनसः काम दीप्तिसंविलितां मुदम्।

निसर्गकलितौद्‌थत्यस्तत्र गुम्फ किलोदितः।।[1]

उसकी समानार्थी कुन्तक की पक्तिया है—

प्रतिभा प्रथमोद्‌भेदसमये यत्र वक्रता।

शब्दाभिधेययोरन्त· स्फुरतीव विभाव्यते।।[2]

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।

उक्तिवैचित्र्यमाणेव काण्ठां कामपिनीयते।।[3]

यहाँ अवधेय यह है कि सूरि जी ने अपने सम्पूर्णग्रन्थ मे कुन्तक द्वारा प्रयुक्त वक्रता शब्द के स्थान पर वैचित्र्य शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरि जी का कुन्तक के सुकुमारादि मार्गो का माधुर्यादि गुणो के साथ ऐकरूप्य स्थापित करने का प्रयास एक दुराग्रह मात्र है, जो कि तथ्य से कोसो दूर है। यह कुन्तक के मार्गो से सम्बन्धित विप्रतिपत्तियो का यथासभव निराकरण रहा।

---

१ अलकारमहोदधि, ६/२४–२६

२ वक्रोक्तिजीवित, १/३५

३ वक्रोक्ति जीवित, १/३८

(घ) काव्य-चिन्तन पर आधारित काव्यमार्ग

वामनाचार्य

१. वामनीय मार्ग

सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति सिद्धान्त के अकुर भरत, भामह, दण्डी इत्यादि सभी आचार्यों मे मिलते तो है, परन्तु उसको प्रस्फुटित करने वाले एक मात्र आचार्य है— वामन। वामन को हम रीति के प्रथम लक्षणकर्ता और रीति सप्रदाय के सस्थापक के रूप मे प्राप्त करते है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यो— भरत, भामह और दण्डी ने किसी न किसी रूप मे रीति अथवा मार्ग को तो स्वीकार किया, किन्तु उनकी रीति विषयक मान्यता उतनी स्पष्ट नही थी, जिसके आधार पर एक सम्प्रदाय का प्रर्वतन हो सके। भरत ने भारत के विभिन्न प्रदेशो मे प्रचलित चार प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है— आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी। भामह ने रीति के स्थान पर 'काव्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसे वैदर्भ और गौड काव्य के रूप मे परिभाषित किया है। आचार्य दण्डी ने वाक्यप्रबन्ध के अनन्त मार्गो या पद्धतियो का सकेत दिया है फिर भी मुख्य रूप से दो काव्य मार्गो— वैदर्भ और गौडीय का उल्लेख किया है। इस प्रकार इन आचार्यो ने भारत के विभिन्न प्रदेशो पर आधारित रीति, प्रवृत्ति अथवा मार्गो का विवेचन किया था।

आचार्य वामन ने रीति सिद्धान्त की स्थापना अष्टम शताब्दी या लगभग इसी के आस—पास की थी। अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी और गौडी रीतियो मे एक और पाञ्चाली नाम की रीति को जोडकर तीन प्रकार की रीतियो को इन्होने मान्यता प्रदान की। वामन के अनुसार रीति का लक्षण है— 'विशिष्टा पदरचना रीति'[१] अर्थात् विशिष्ट पद रचना

---

१ काव्यालकार सूत्रवृत्ति—२/७

को रीति कहते है। इस वैशिष्ट्य का मुख्य कारण है उसमे गुणो का समावेश अर्थात् उसमे विशेषता गुणो के समावेश से ही आती है।[१] जैसा कि न तो वामन के किसी पूर्ववर्ती और न ही किसी पश्चाद्वर्ती विद्वानो ने स्वीकार किया है।

वामन ऐसे आचार्य है, जिन्होने सर्वप्रथम काव्य की आत्मा की कल्पना की थी। उल्लेखनीय है कि आत्मतत्व की गवेषणा सर्वप्रथम वामन ने ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[२] कहकर की थी जैसा कि डा एस के डे ने लिखा है–

"The enquiry as to what is the 'soul' or essence of poetry is for the first time definitely posed and systematically worked out by Vaman, his predecessors, to whom the 'body' or poetry was more important, never having travelled themselves with his question Vaman lays down clear terms; 'rıtıratma kavyasya' the Rıtı is the soul of poetry and working out this figurative discription he points out that the word (Sabda) and its sense (artha) constitute the 'body of which the is the Rıtı."[3]

तात्पर्य यह है कि शब्द और काव्य के शरीर है और रीति काव्य की आत्मा है। यही काव्य मे अलौकिक चारुता का आधान करती है। वामन ने इस काव्यगत चारुता को सौन्दर्य के नाम से अभिहित किया है। सौन्दर्य दोषो के त्याग और गुणोपादान से आता है। उन्होने 'सौन्दर्यभलकार'[४] के द्वारा सौन्दर्य मात्र को अलकार माना है एव काव्य की ग्राह्यता अलकार सापेक्ष मानी है– 'काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्'[५] इस प्रकार वामन ने अलकार को एक विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। यह तो स्वरूपगत सौन्दर्य की बात

१ 'विशेषो गुणात्मा। – काव्यालकारसूत्राणि–२/८
२ काव्यालकार सूत्राणि, १/२/६)
3 S K De History of Sanskrit Poetics, P 90
४ काव्यालकार सूत्राणि, १/१/२
५ काव्यालकार सूत्राणि, १/१/१

भी वामन ने कही है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य', 'विशिष्टा पदरचना रीति' तथा 'विविशेषोगुणात्मा' कहकर वामन ने सघटनागत सौन्दर्य का स्रोत गुण को माना है। इन गुणो मे अतिशयता के साधक के रूप मे अलकारो को स्वीकार किया है– 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा ।'[1] उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अलकार साध्य व साधक दोनो है– अलङ्कृतिरलङ्कार तथा अलङ्क्रियतेऽनेनेति अलकार ।

आचार्य वामन ने मुख्य रूप से अपना ध्यान काव्य की आत्मा की ओर ही केन्द्रित किया है, परन्तु वामन ने अलकारो का निरूपण न किया हो, ऐसी बात नही है। उन्होने अलकारो को काव्य मे सौन्दर्य का अतिशायक मानते हुए उनका बडा ही विशद निरूपण किया है। उनके अनुसार अलकार शब्द वस्तुत सौन्दर्य का ही वाचक है। उन्होने काव्यगत सहज सौन्दर्य का समादर किया है, फिर भी वे कथमपि अलकारो को प्राधान्य देने क निमित्त तैयार नही है। वामन की धारणा तो यह है कि युवती यदि सौन्दर्यरूप गुणो से सम्पन्ना है तो अलकारविहीना होने पर भी शोभित होगी और सौन्दर्यहीन नारी सर्वालकरणभूषिता होने पर भी सुन्दर नही लगेगी।[2]

वामन की उक्त सौन्दर्यदृष्टि अत्यन्त विशद एव वैज्ञानिक है। उनकी सौन्दर्य दृष्टि से प्रभावित होकर डा रेवा प्रसाद द्विवेदी ने ध्वनिवादी एव रसवादी आचार्यो की दृष्टि को भी खण्ड दृष्टि माना है। डा द्विवेदी के मतानुसार इन आचार्यों मे सौन्दर्य की वह समग्र दृष्टि नही है जो वामन मे है। ध्वनि सौन्दर्य नहीं अपितु सौन्दर्य साधन है। इसी प्रकार रस काव्यतत्त्व नही अपितु सहृदयगत धर्म है। वस्तुत अलकार सज्ञा एक समग्र सज्ञा है, ठीक वैसी ही जैसी ब्रह्मसज्ञा। 'ब्रह्म' ही 'अल' है और 'अल' ही ब्रह्म। शब्द सृष्टि मे 'अ' से लेकर 'ल' तक की जो प्रत्याहार प्रक्रिया है, वह यदि

---

१ काव्यालकार सूत्राणि, ३/१/२

२ **युवतेरिव रूपमङ्ग काव्य स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव।**
विहितप्रणय निरन्तराभि सदलकारविकल्पकल्पनाभि ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनाया ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलकरणानि संश्रयन्ते।। – काव्यालकारसूत्राणि, ३/१/२

वाग्विभव की समता के लिए सक्षम शास्त्रीय परिभाषा है, तो कोई कारण नही कि उसे ब्रह्म से भिन्न माना जाय, क्योकि शब्द और अर्थ दोनो सारस्वत समुद्र की दो उर्मियॉ है जो परस्पर अभिन्न है, क्योकि दोनो ही अपने मूल रूप मे समुद्र ।[1]

वामन की अलकार सम्बन्धी उक्त धारणा का व्यापक अनुशीलन करने के उपरान्त 'काव्य ग्राह्यमलकरात् तथा 'रीतिरात्मा काव्यस्य मे दृष्टिगत होने वाले विरोधाभास का परिहार हो जाता है, क्योकि रीति का आधारभूत जो 'गुण' है वह भी तो व्यापक दृष्टि से अलकार ही है किन्तु स्पष्ट है कि वामन ने सौन्दर्य की व्यापक दृष्टि का सकेत किया है, किन्तु उसकी कोई विशद व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। उनके काव्य का आत्मभूत गुण घूम–फिर कर शब्दार्थ की सीमा मे ही सिमट जाता है।[2] इन सबके बावजूद भी आचार्य वामन ने परवर्ती विचार सारणी को बहुत अधिक प्रभावित किया है, सौन्दर्य को वे जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहते थे, ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि सिद्धान्त का वही उत्स है।

वामन का दृष्टिकोण अत्यधिक सूक्ष्म है। उन्होने काव्य के आत्मत्व' का दर्शन किया था और उसका मनाक् स्पर्श किया था। आत्मत्व की वे भले ही विशद् और वैज्ञानिक व्याख्या नही कर सके, लेकिन निसकोच कहा जा सकता है कि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के वे पथप्रदर्शक हैं। उनकी आत्मत्व की विवेचना ही शायद ध्वनि का उत्स है। उनकी काव्य के आत्मत्त्व की परिकल्पना वह प्रथम सोपान है जिस पर पदन्यास करके ही शायद ध्वनिकार ने सहृदय हृदयाह्लादक अलोक–सामान्य आत्मत्व का विशद् विवेचन किया है। यही वामन की गरिमा है और यही उनकी विशिष्टता है।

---

१ वामनकृत काव्यालकारसूत्रवृत्ति की वेचन झा कृत व्याख्या मे डा रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत भूमिका, पृ ११'

२ ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा काव्यशोभा कुर्वन्ति ते गुणा ।

–काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३/१/१

वामन ही वह प्रथम आचार्य है जिन्होने गुणो एव अलकारो मे भेद माना है। उन्होने काव्य मे अलकारो को अपरिहार्य तत्व नही माना है। उनके मतानुसार काव्य की ग्राह्यता उसके सौन्दर्य से होती है और सौन्दर्य को परिभाषा बद्ध करना कठिन है। वामन ने रीति तथा उसके धर्म गुण को काव्य का सौन्दर्य उत्पादक तत्त्व माना है। इस दृष्टिकोण से वामन ही वह प्रथम आचार्य है जिन्होने गुण एव अलकारो के भेद का अत्यन्त सूक्ष्म एव विशद् विवेचन किया है।

वामन के मतानुसार गुण रीति के अपरिहार्य धर्म है जो काव्य मे शोभाधायक तत्त्व है— काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा' परन्तु अलकार काव्य शोभा मे अतिशायक है— 'तदतिशयहेतव उनके अनुसार गुण नित्य हैं और अलकार अनित्य, क्योकि गुणो के बिना काव्य के आकर्षण की कल्पना नहीं की जा सकती जबकि अलकारो के बिना काव्य मे प्रभूत आकर्षण हो सकता है— 'तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते । तात्पर्य यह है कि गुण काव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहते हैं जबकि अलकार सयोग सम्बन्ध से। गुण काव्य की आत्मा (रीति) से सम्बन्धित है जबकि अलकार शब्द और अर्थ से सम्बन्धित है। गुणो के अभाव मे मात्र अलकार काव्य मे सौन्दर्य के आधायक नहीं हो सकते, परन्तु अलकारो के अभाव मे गुण काव्य सौन्दर्य के अधायक बन सकते है। यह बात अवश्य है कि वामन ने अलकारो को सर्वथा तिरस्कृत ही नहीं किया है। वे उन्हे भी काव्य का तत्व मानते है।

एक बात और ध्यात्व्य है कि यद्यपि वामन आत्मा की सत्ता तो मानते है, किन्तु उनका वर्णन उन्हे देहवादी ही सिद्ध करता है। वस्तुत उनकी काव्यात्मा रीति चार्वाक् दर्शन के देहात्मवाद से मिलती जुलती है। जिस प्रकार प्रत्यक्षवादी चार्वाक् अवयव सस्थान को ही आत्मा स्वीकार करते है तथा शरीर के नाश के साथ ही वे आत्मा के नाश की भी बात करते है उसी प्रकार वामन भी काव्य को वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इन तीन रीतियो के अन्दर समाविष्ट करते है। यह प्रकरण ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार रेखाओ के अन्दर चित्र समाविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रेखाओ के मिट जाने पर चित्र की सत्ता समाप्त हो जाती है उसी प्रकार इन रीतियो के अभाव मे काव्यत्व की हानि हो जायेगी। वस्तुत चित्र के साथ काव्य की उपमा देकर वामन ध्वनिवादियो के पर्याप्त सन्निकट आ गये है, क्योकि रेखा ही तो चित्र नही होती, अपितु रेखा चित्र की परम साधिका होती है। उसी प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति मे परमसाधन तो रीति ही है। उनके द्वारा ही काव्य व्यक्त होता है। इस प्रकार वामन प्रतीयमानार्थ का सस्पर्श करते हुए दृष्टिगोचर होते है, परन्तु चूँकि 'रीतिरात्माकाव्यस्य कहकर उन्होने रीति को साध्य मान लिया है, इसलिए यह तथ्य अपने विशद् रूप मे सामने नही आ सका है।

आचार्य वामन रीति का लक्षण करते हुये 'रीतिरात्माकाव्यस्य' कहते तो है, किन्तु 'विशष्टा पदरचना रीति' कहकर वे विशेष प्रकार के शब्द एव अर्थ तक ही सीमित कर देते है। इस प्रकार सब मिला—जुलाकर वामन को देहात्मवादी आचार्य ही कहा जा सकता है। इसीलिए समालोचको ने वामन की तुलना चार्वाक् दार्शनिको से की है जिन्होने कि देह को ही आत्मा माना है।

यह सत्य है कि वामन ने जो काव्यात्मा की गवेषणा की है, वह आलोचको की आलोचना से वचित नहीं रहा, किन्तु इसे तो अस्वीकार नही किया जा सकता कि काव्यशास्त्र के इतिहास मे सर्वप्रथम काव्य की आत्मा की परिकल्पना करके उन्होने सर्वथा एक नये युग का सूत्रपात किया है और काव्यशास्त्र को एक नया आयाम दिया है। वामन द्वारा प्रवर्तित यह मान्यता बाद मे ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तन और उसके विकास मे सहायक हुई। इसीलिए काव्यशास्त्र के इतिहास मे वामन का विशिष्ट स्थान है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वय आनन्दवर्धन ने वामन के रीति सिद्धान्त की मौलिकता की प्रशसा की है। वे इस तथ्य को स्वीकार करते है कि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक के मन मे ध्वनि सिद्धान्त की मान्यताए आविर्भूत हुई थी, किन्तु ये मान्यताए रीतिकार के मन मे शैशवावस्था मे थी और वे उनका व्यक्तीकरण सुष्ठु प्रकारेण नहीं कर सके।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ये शब्द रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन की मौलिकता एव उनके स्वतत्र व्यक्तित्व की विवेचना करने हेतु सक्षम है। इनसे यह स्पष्ट द्योतित होता है कि वामन ने काव्य की आत्मा के रूप मे जो परिकल्पना की थी उससे ध्वनिकार भी पर्याप्त प्रभावित हुए थे। जैसा कि हम पहले ही यह विवेचना कर चुके है कि काव्य की आत्मा के प्रति सर्वप्रथम ध्यान वामन का ही गया था। वे ही पहले आचार्य है जिन्होने काव्यात्म तत्व की सर्वप्रथम गवेषणा की थी। वस्तुत आत्मा ही किसी काव्य की सजीवता का प्रमाण है। बिना आत्मा क शरीर व्यर्थ है, उसी प्रकार आत्मारहित काव्य भी व्यर्थ है। उसे वास्तविक अर्थो मे काव्य की सज्ञा नही दी जा सकती। काव्य मे आत्मा किसे कहा जाय, इसकी खोज सर्वप्रथम वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर प्रारम्भ की है। वामन ने रीति को गुणो से विशिष्ट माना है। रीति की विशेषता गुणो से ही है– 'विशेषो गुणात्मा'। इस प्रकार रीति का महत्व गुणाधीन है।

जहॉ दण्डी ने गौड और वैदर्भ नाम के दो मार्गो का प्रतिपादन किया, उसी मे पाञ्चाली एक भेद जोडकर वामन ने अपना लक्षण इस प्रकार किया–

'सा त्रेधा वदर्भीगौडीया पाञ्चाली चेति।'[१]

वामन ने वैदर्भी का समग्र गुणो से युक्त माना है। उन्होने गौडी रीति को ओज तथा कान्तिगुण प्रधान माना है, उसमे माधुर्य एव सौकुमार्य का राहित्य होता है। पाञ्चाली रीति माधुर्य एव सौकुमार्य गुण प्रधान होती है। उसमे ओज एव कान्ति गुण का अभाव होता है। इन तीनो रीतियो मे वामन ने काव्य को उसी प्रकार आबद्ध माना है, जिस प्रकार विभिन्न रेखाओ मे चित्रित चित्र।

समग्र ओज प्रसादादि शब्द एव अर्थ गुणो से युक्त वैदर्भी रीति की वामन ने सर्वतोभावेन प्रशसा की है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के लिए एक मात्र

---

१ काव्यालकार सूत्राणि, १/२/६

उस ही ग्राह्य बताया है। वे इस तथ्य को कदापि स्वीकार नही करते कि गौडी एव पाञ्चाली रीति मे काव्य रचना का अभ्यास हो जाने पर व्यक्ति पुन वैदर्भी के लिए अभ्यस्त हो जायेगा, क्याकि उनकी यह मान्यता है कि अतत्व को अभ्यास करने वालो का तत्व की सिद्धि नही होती– 'न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभ ।'[1] अर्थात् सन की डोरी से बुनने का अभ्यास करने पर टसर के सूत्र से बुनने मे विलक्षणता की प्राप्ति नही होती। यहॉ पर वामन की इस मान्यता से यह बात स्पष्ट होती है कि वामन अभ्यास को शक्ति नही मानते। रीतियो का नामकरण वामन ने देश के आधार पर किया है, क्योकि तत्तद देशो मे तत्तद रीतियो का प्राबल्य होता है।

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही नही अपितु रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता भी है और लक्षणकर्ता भी। वामन के अतिरिक्त यद्यपि इसी अर्थ मे दण्डी ने मार्ग शब्द का प्रयोग किया था, किन्तु उन्होने उसका काई लक्षण नही निर्धारित किया। साथ ही वामन प्रथम आचार्य है जिन्होने काव्य की आत्मा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करके तथा उसके स्वरूप का प्रथम निरूपण करके काव्यशास्त्र मे एक क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात किया। उन्होने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर मानकर रीति को काव्य की आत्मा माना था।

आचार्य वामन ने जिस विचार–सरणि का सूत्रपात किया था वह बाद मे अत्यन्त पीनकाय हो उठी, जिसका दर्शन उक्ति वैचित्र्य के रूप मे कुन्तक ने किया और जिसे ध्वनि की सज्ञा दते हुए ध्वनिकार ने अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीति को काव्य की आत्मा की उद्घोषणा करके आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र मे एक क्रान्तिकारी विधा का सूत्रपात किया। यही विधा या वामन द्वारा रचित ग्रथित एक नवीन मार्ग ही वामनीय मार्ग है।

---

१ काव्यालकारसूत्राणि, १/२/१८

उद्भटाचार्य

२. औद्भटीय मार्ग

आचार्य उद्भट सस्कृत काव्यशास्त्र के जाज्वल्यमान स्तम्भ है। अलकार के क्षेत्र मे आचार्य भामह के बाद आचार्य उद्भट का नाम आता है। आचार्य उद्भट न अपने प्रखर व्यक्तित्व से अलकारशास्त्र मे एक विशिष्ट स्थान ही नही बनाया अपितु औद्भट सम्प्रदाय के प्रर्वतक भी बन गये। सम्पूर्ण अलकारशास्त्र पर उनकी प्रतिभा की स्पष्ट छाप है। उन्होने अपनी सारी मेधा शब्द वल्लरी को सुसज्जित करने मे लगा दिया था। विभिन्न अलकारो से सुसज्जित शब्दावली ही उनकी दृष्टि मे उत्तम काव्य कहलाती है।

आचार्य उद्भट ने अमुख्य या गौण अर्थ की कल्पना की थी। यह किसी शब्द का गौण अर्थ होता है, परन्तु कालान्तर मे स्थिति और स्पष्ट हो उठी। जिस अमुख्य या गौण अर्थ की कल्पना आचार्य उद्भट आदि आलकारिको ने की थी, कालान्तर में उसी का बहुत ही विशद् विवेचन हुआ और वही ध्वनि के रूप मे काव्यमर्मज्ञो के समक्ष आया। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट ने परवर्ती ध्वनिवादियो का मार्ग प्रशस्त किया था। उन्होने जिस अमुख्य अर्थ के बीज का वपन किया था, वही बाद मे अकुरित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित हुआ।

इस आधार पर आचार्य उद्भट ने शास्त्र और काव्य मे भेद माना है जैसा कि आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमासा मे लिखा है– अस्तुनाम निस्सीमा अर्थसार्थ·। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारित सुस्थ अविचाररमणीय। तयो पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तर काव्यानि।[1] काव्यमीमासा मे उद्भट के मत का उल्लेख करते हुए राजशेखर का कथन है कि वे अर्थ के दो रूपो को मानते थे–

---

१ काव्यमीमासा, पृ ४४)

१ विचारित सुस्थ

२ अविचारितरमणीय

पहले को शास्त्र और दूसरे को काव्य कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार की बात व्यक्तिविवेक की टीका मे कही गयी है कि उद्भटादि का यह सिद्धान्त है कि काव्य का इतिहास एव शास्त्र आदि से जो व्यतिरेक है वह शब्द और अर्थ की विशेषतावश न कि अभिधा की विशेषतावश। काव्यमीमासाकार ने इस मत की आलोचना की है और यह बताया है कि इनकी इस बात को मानने से समस्त काव्यगत अर्थ ही असत्य एव अप्रामाणिक माना जाने लगेगा।

आचार्य उद्भट ने 'अवगम' नामक एक महत्वपूर्ण अर्थशक्ति का वर्णन किया है। यह बात जब हम उद्भट के पर्यायोक्त के विषय मे पढते है तो जानने मे सक्षम होते है। इसका अर्थ होता है– सकेत जो शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा से सर्वथा भिन्न होता है। आचार्य उद्भट ने कहा है–

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।।[1]

आचार्य रूद्रट ने भी इस अवगमात्मक व्यापार का उल्लेख किया है। जहॉ तक उद्भट का प्रश्न है, उनके विषय मे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनो ने उल्लेख किया है। उद्भट ने अलकार ध्वनि का निरूपण भामह विवरण में किया है भले ही वे उसे अलकारध्वनि कहने को तैयार न हो– अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलकार सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शित तत्रभवद्भि भट्टोद्भटादिभि।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन मे उल्लेख किया है– 'तदयमर्थ वाच्यालकारविशेषविषयेऽपि अन्यो अलकारविशेष· भातीत्युद्भटादिभि उक्त इत्यर्थशक्त्या अलकारो व्यज्यत इति तैरूपगतमेव। केवल ते अलकारलक्षणकारत्वाद् वाच्यालकारविषयत्वेन आहुरिति भाव ।

---

१ काव्यालकारसारसग्रह एव लघुवृत्ति की व्याख्या, पृ ३५६

२ ध्वन्यालोक लोचन, पृ १०८

जब आचार्य आनन्दवर्धन के नेतृत्व मे ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनि की स्थापना की तो कतिपय परम्परावादी आचार्यो ने ध्वनिवाद का पर्याप्त विरोध किया। अनेक परम्परावादी आचार्यो ने ध्वनि का दर्शन तो किया परन्तु उन्होने उसका गुणो या अलकारो मे अन्तर्भाव माना है। आचार्य उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज भी ऐसे ही व्यक्ति है जिन्होने ध्वनि का अन्तर्भाव अलकारो मे माना है। प्रतीहारेन्दुराज भी परम्परावादी आचार्य है उन्होने कहा है—

'स (प्रतीयमान) कस्मादिह नोपदिष्ट ? उच्यते एष्वेव अलकारेषु अन्तर्भावात्।

इन अलकारान्तर्भाववादियो ने वस्तुध्वनि को पर्यायोक्तालकार मे अन्तर्भाव करने की चेष्टा की है। जहॉ तक पदध्वनि का प्रश्न है, प्रतीहारेन्दुराज ने उसकापर्यायोक्त अलकार मे अन्तर्भाव कर लिया है— जैसे— 'रामोऽस्मि सर्वसहे'। इसके लिए प्रतीहारेन्दुराज को एक अलग श्रेणी बनानी पडी।

उद्भटादि अलकारवादी पूर्वाचार्यो ने ध्वनिमार्ग का ईषत् स्पर्श किया है। भामह पर टीका लिखते हुए आचार्य उद्भट ने कहा है कि काव्यशास्त्र के पूरक है— शब्द और अभिधान।[1] अभिधान से हमारा तात्पर्य दो प्रकार के अर्थो स है— मुख्य और गौण। गौण अर्थ की अलकार मे किस प्रकार की उपस्थिति हो सकती है ? इस बात की विवेचना आचार्य उद्भट ने भामह विवरण मे अवश्य की होगी परन्तु दुर्भायवश वह अब प्राप्त नही है। काव्यालकारसारसग्रह मे एक स्थल पर आचार्य उद्भट ने यह कहा है कि रूपक में गुण वृत्ति होती है। जिस स्थल पर उद्भट ने यह दिखाया है, वह भामह से काफी मिलता—जुलता है—

श्रुत्या सम्बन्ध-विरहात् यत्पदेन पदान्तरम्।

गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपक तु तत्।।[2]

---

१ काव्यालकारसारसग्रह, १/६

२ काव्यालकारसारसग्रह एव लघुवृत्ति की टीका, पृ २६८

दार्शनिक साहित्य मे गुणवृत्ति का आख्यान उद्भट से बहुत पूर्व हो चुका था, किन्तु काव्यशास्त्र मे इसका बीजारोपण दण्डी के समाधिगुण और वामन के वक्रोक्ति अलकार के साथ हुआ।

इस प्रकार हम देखते है कि ध्वनि का आविर्भाव प्राचीन युग मे हो चुका था। आचार्य उद्भट ने ध्वनि का दर्शन किया था, परन्तु उनकी वह परिकल्पना बाद मे मूर्त हुई और आनन्दवर्धन ने उसकी वृहद् विवेचना की। अस्तु ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ही समझे जाते है। बाद मे अभिनवगुप्त ने 'लोचन के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त को और गहरी पैठ दी तथा मम्मट ने विभिन्न मत–मतान्तरो का खण्डन करके बडे ही सुव्यवस्थित ढग से इसे प्रस्तुत किया। ध्वनि पूर्व युग वस्तुत अलकारशास्त्र के विकास का युग है। जिस युग का आचार्य उद्भट प्रतिनिधित्व करते है उस युग मे प्रमुखता अलकार को ही दी जाती थी, अस्तु यह युग ध्वनि वाद का शैशव काल कहा जा सकता है। कोई भी चीज अपने विकास काल मे पूर्ण नही होती। उसमे कुछ न कुछ कमियॉ अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं। ध्वन्युत्तरकाल वस्तुत परिपक्व काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि को लिए हुए अपने मे पूर्ण है।

ध्वनिपूर्व कालीन उद्भटादि काव्यशास्त्रियों ने चूँकि अलकार अर्थात् काव्यशरीर का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया है इसलिए उन्हे अलकारवादी आचार्य कहा जाता है। और ध्न्युत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियो ने काव्य के आत्मत्व पर ही सूक्ष्मरूपेण विचार किया है इसलिए उन्हे अलकार्यवादी कहा जा सकता है। ध्वनि पूर्व काल मे 'सौन्दर्यमलकार के द्वारा काव्यशोभाकर सभी धर्मों को अलकार माना गया है। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से अलकार तो अलकार है ही, गुण भी उपमादि से पृथक् विशिष्ट अलकार है, परन्तु ध्वन्युत्तरकाल में अलकार और गुण दो भिन्न चीजे मानी गयी है जिसमें अलकार काव्य के अनित्य धर्म माने गये है और गुण रसगत होने के कारण नित्य धर्म।

ध्वनि पूर्व युग मे उद्‌भटादि आचार्यो के मत मे अलकार्य तथा अलकार मे भेद न होने के कारण तथा रस का व्यञ्जकत्व सिद्ध न होने के कारण रस का वास्तविक स्वरूप प्रकट न हो सका, परन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एव मम्मट के द्वारा ध्वनि एव रस के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन हुआ। आनन्दवर्धन ने यद्यपि 'काव्यात्मा ध्वनि' के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है किन्तु उनका अभिनिवेश प्रमुखतया रस पर ही है। इसका सकेत स्थान–स्थान पर तो मिलता ही है 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' के द्वारा वह और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

चिरन्तन उद्‌भटादि आचार्यो ने काव्य मे अलकार को ही प्रमुखता दी है। भामह ने तो यहाँ तक कहा है कि 'न कान्तमपि विर्भूष' विभाति वनिताननम्।[1] तथा रस, भाव आदि का भी अलकार मे ही अन्तर्भाव कर दिया है। उद्‌भट तो गुणो एव अलकारो मे भेद गड्‌डलिका प्रवाह के सिवा कुछ मानते ही नही, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनि को केन्द्र मे रखकर उसे ही काव्य मे आत्मत्वेन प्रतिष्ठित करके, गुण, रीति तथा अलकार आदि का विचार किया है। यही कारण है कि ध्वनिकाल मे अलकार सम्बन्धी पूर्वोक्त धारणा मे आमूल–चूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस युग मे अलकार काव्य का व्यापक नहीं अपितु व्याप्त तत्व मात्र रह गया है। तात्पर्य यह है कि अलकार रस मुखापेक्षी हो गये। साथ ही साथ ध्वन्युत्तरकाल मे गुणो एव अलकारो मे भी स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट किया है।

इस प्रकार जिस अलकार को उद्‌भटादि ने आत्मस्थानीय माना है, उन्हे ध्वन्युत्तर काल मे अगत्व भी प्राप्त नही हो सका। वे अगो के भी आश्रित माने जाने लगे जैसे कटक कुण्डल आदि हाथ एव कानो के आश्रित रहते है। चिरन्तन आचार्यों ने जिस गुण को अलकार के एक अग के रूप मे ग्रहण किया था, वह ध्वन्युत्तर काल मे अलकार से स्वतत्र हो गया तथा अगी रसादि के आश्रित होने से एव काव्य मे उसकी नियत स्थिति मान्य होने से उसकी महिमा अलकारो की अपेक्षा बढ गयी।

१ काव्यालकार १/१३

इस प्रकार जैसा कि पूर्वोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र मे ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव कोई आकस्मिक घटना नही है अपितु यह एक क्रमिक विकास का परिणाम है। सर्वथा यह कह देना भी युक्ति सगत नही है कि ध्वनिकार ने सर्वथा किसी अभिनव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की है जो अब तक प्रतिपादित नही हुई थी। चिरन्तन आचार्यो तथा ध्वनिकार मे अन्तर मात्र प्राधान्य को लेकर है। ध्वनि पूर्व कालीन आचार्यो न जिन तत्वो को प्रधान स्थानीय माना है, उनको ध्वनिकार ने गौण स्थानीय माना है तथा ध्वनि की प्रधानत्वेन स्थापना की। इसलिए हम देखते है कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक मे अनेक स्थानो पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है—

यद्यपि च ध्वनि शब्द सकीर्तनेन काव्यलक्षण विधायिभिर्गुण वृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकार प्रकाशित, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि, न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति।

अर्थात् भामह के 'शब्दश्छन्दोभिधानार्थ' के प्रसग मे 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापार मुख्यो गुणवृत्तिश्च" लिखकर काव्यो मे गुणवृत्ति से व्यापार दिखाने वाले भट्टोद्भटादि ने ध्वनि मार्ग का थोडा सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नही किया।

उद्भट मुख्य रूप से अलकारवादी आचार्य थे। उनकी कृति के काव्य हेतु एव दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण अलकार है। उद्भट ने एक स्थान पर 'चेतोहरि साधर्म्यम्' कहा है, जिससे यह पता चलता है कि साधर्म्य रूप उपमा जैसे अलकार ही काव्य मे चित्त को आकृष्ट करने वाले सौन्दर्य के स्रोत—तत्व है।

अलकार सामान्य से सम्बन्धित उनकी इन धारणाओ के अतिरिक्त जब विशेष—विशेष अलकारो के सम्बन्ध मे उनके मत को देखते है तो उनकी कई मान्यताएँ इधर के स्रोतो से उपलब्ध होती है।

श्लेष अलकार के सम्बन्ध मे श्लेष का कथन है कि जहाँ श्लेष अलकार होता है वहाँ दूसरे अलकार भी होते है। यहाँ प्रश्न उठता है कि फिर उन उदाहरणो मे श्लेष की प्रधानता स्वीकार की जाय या अन्य अलकार की अथवा इन दोनो की उद्भट की यह मान्यता है कि श्लेष का अस्त्वि कही भी स्पष्ट रूप से जब सम्भव नही है, तब कम से कम ऐसे स्थलो मे श्लेष को ही महत्व देना होगा– अन्य अलकारा को नही।

अलकार सर्वस्वकार रूय्यक ने तो यह भी कहा है कि उद्भट आदि आलकारिक समस्त व्यङ्ग्य अर्थ को भी वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानते है–उपस्कार्य या अलकार्य तो शब्द और वाच्य अर्थ ही हैं, अत इनके यहाँ समस्त ध्वन्यमान अर्थ का अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशसा या पर्यायोक्त मे ही कर लेना चाहिए। ध्वन्यालोककार ने ध्वन्यभाववाद के सन्दर्भ मे इस मत का उल्लेख पूर्वक खण्डन किया है। प्रतीहारेन्दुराज ने भी अपनी टीका मे यही आशय व्यक्त किया है। इससे पता चलता है कि ध्वनि के सद्भाव को तो वे मानते है, पर उसे अलकार से पृथक् नही मानना चाहते।

लोचनकार ने गुण एव सघटना की एकता और अनेकता पर विचार करते हुए यह माना है कि उद्भट के अनुसार गुणो का आश्रय सघटना है। उसका कारण यह है कि गुण के स्वरूप की धारणा की इन लोगो की भिन्न है। ध्वनिवादियो की गुण सम्बन्धी धारणा भिन्न है, इसलिए वे लोग इनकी गुण सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए मानत है कि सघटना का ही आश्रय गुण है। आश्रय इस अर्थ मे कि गुण के ही आधार पर सघटना का निर्माण होता है।

उद्भट ने दो प्रकार की शक्तियाँ स्वीकार की है– अभिधा और गुणवृत्ति। इसके विपरीत पर्यायोक्त अलकार के प्रसग मे उद्भट ने कहा है कि यहाँ वाच्यवाचकभाव या अभिधा शक्ति से नही बल्कि शब्द की 'अवगमात्मक'[१] शक्ति से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट होता है। इस 'अवगमात्मक'

---

१ वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना। –काव्यालकार सार सग्रह–४/६

शक्ति से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट होता है। इस 'अवगमात्मक' को आगे चलकर व्यञ्जना नाम से कहा गया है। इस प्रकार व्यञ्जना की भी अनजान में आवश्यकता स्वीकार कर ली गयी है, पर वास्तव में इन्होंने अभिधा और 'गुणवृत्ति को ही मान्यता दी है।

इस प्रकार छिटपुट रूप में आचार्य उद्भट के साहित्यिक सिद्धान्तों का पता लगता है और इन उपलब्ध विचारों से स्पष्ट होता है कि आचार्य उद्भट ने अलंकार वर्णन के प्रसंग में ही कई एसे सिद्धान्तों एवं नियमों का उल्लेख किया है जिससे उनके एक अलग मार्ग का पता लगता है। जिसे बाद के आचार्यों ने औद्भटीय मार्ग के नाम से अभिहित किया।

आनन्दवर्धनाचार्य

३. समालोचना मार्ग (ध्वनिमार्ग)

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्य की समालोचना में रीतियों को प्रमुखता दी गयी थी। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। आनन्दवर्धन का मत है कि काव्य में ध्वनि ही सबसे प्रमुख तत्त्व है और वही काव्य की आत्मा है। प्राचीन आचार्यों ने रीति को जो काव्य की आत्मा है। प्राचीन आचार्यों ने रीति को जो काव्य की आत्मा बताया, इसका कारण यह था कि ये काव्य के तत्व को अच्छी प्रकार से समझ नहीं सके थे। इसी तथ्य को कारिका में कहा गया है—

'अस्फुट रूप से स्फुटित होने वाले इस वाच्य तत्व की जैसे कि कहा गया है, व्याख्या करने में असमर्थ होते हुए आचार्यों ने रीतियों का प्रवर्तन किया था।'[१]

इस ध्वनि के प्रवर्तन द्वारा जिस काव्य तत्त्व का निर्णय किया गया है,

---

१. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। —ध्वन्यालोक, ३/४७

वह चूँकि अस्फुट रूप से स्फुटित होता था, अत इसका प्रतिपादन करने मे असमर्थ रहने वाले वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली उन तीनो रीतियो का प्रवर्तन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि रीति का लक्षण करने वाले आचार्यो को यह काव्य तत्त्व अस्फुट रूप से थोडा सा प्रतीत हो रहा था। उसका हमने स्पष्ट प्रदर्शन कर दिया है, अत इस ध्वनि रूप काव्य तत्त्व से भिन्न किसी अन्य रीति का लक्षण करने से कोई प्रयोजन नहीं रहा।

आनन्दवर्धन के कथन का अभिप्राय यह है कि उनसे पूर्व काव्य के आत्माभूत ध्वनि नामक तत्व का स्पष्ट रूप समालोचको के समक्ष नही था, कवेल उसका एक अस्पष्ट रूप विद्यमान था। इस समय के आचार्यो मे उसके स्वरूप को चित्रित करने की प्रतिभा का अभाव था और उसकी व्याख्या नही कर सके। उन्होने काव्य के सौन्दर्य रूप उस तत्व का प्रतिपादन रीति के रूप मे किया। इस प्रसग मे 'आनन्दवर्धन' ने वामन का नाम न लेकर भी उनकी ओर ही सकेत किया है। वामन ने तीन प्रकार की रीतियॉ बतायी थी– वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली, यद्यपि वामन से पूर्व भी रीतियो का स्वरूप समालोचको के समक्ष आ गया था, परन्तु रीति सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना एव उसका काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिपादन वामन ने ही किया था।[१] रीतियो का प्रतिपादन करके वामन यद्यपि ध्वनि के अधिक समीप तो पहुँच गये थे, तथापि वे ध्वनि की स्पष्ट व्याख्या नही कर सके।

वामन 'विशिष्टपदरचना रीति' कहकर एक ओर तो रीति का सम्बन्ध पद रचना के साथ जोडकर उसको काव्य का बहिरग तत्त्व प्रतिपादित करते है, दूसरी ओर 'विशेषो गुणात्मा' कहकर रीतियो का गुण के साथ सम्बन्ध जोडकर उसको काव्य का अतरग तत्त्व प्रतिपादित करते

---

१ एतद् ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीत काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरित सदशक्नुवद्‌भि प्रतिपादयितु वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली चेति रीतय प्रवर्तिता। रीतिलक्षणविधायिना हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितमित्यन्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्। –ध्वन्यालोक कारिका ४७ की वृत्ति।

है। वामन के अनुसार रीति ही काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व था तथा उसका नियामक कोई अन्य तत्त्व नही था, परन्तु आनन्दवर्धन ने ध्वनि का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करके कहा कि रीति काव्य की आत्मा नही है, ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि का स्पष्ट चित्रण हो जाने के पश्चात अब रीति का लक्षण करने की आवश्यता नही है, क्योकि रीति का अन्तर्भाव ध्वनि मे ही हो जाता है।

ध्वनिकार के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि मे अलकार सिद्धान्त की अपेक्षा रीति का सिद्धान्त ध्वनि के अधिक समीप है। रीतिवादी आचार्य ध्वनि तत्त्व के अधिक समीप पहुॅच गये, परन्तु रीति का अन्तर्भाव चूॅकि ध्वनि तत्त्व मे ही हो जाता है, अत ध्वनि से भिन्न रूप मे उनका लक्षण करने की आवश्यकता नही है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका की वृत्ति मे कहे गये अभाववाद के विकल्पो मे जो रीतियॉ (रीतयश्च वैदर्भी प्रभृतय) दृष्टि गोचर हुई थी, उनका समाधान कर दिया। रीतियो के स्वरूप का समाधान करने के पश्चात ध्वनिकार वृत्तियो के लक्षण की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करते है।

इस काव्य के लक्षण के जान लेन पर शब्द तत्त्व के आश्रयभूत और अर्थतत्त्व के आश्रयभूत जो और वृत्तियॉ है, वे भी प्रकाशित हो जाती है।[1]

इस व्यङ्ग्य–व्यञ्जक भाव की विवेचना से भरे हुए काव्य के लक्षण के ज्ञात होने पर शब्दतत्त्व के आश्रय से रहने वाली जो कोई प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियॉ है और अर्थतत्त्व से सम्बन्धित जो कोई कैशिकी आदि वृत्तियॉ है। वे भी ठीक रूप से रीति की पदवी पर अवतीर्ण होती है। अर्थात् जिस प्रकार ध्वनि के स्वरूप के जान लेने पर रीति के लक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा अदृष्ट पदार्थो के समान वे वृत्तियॉ भी अश्रद्धेय हो जावेगी तथा अनुभव सिद्ध नहीं रहेगी।

---

१ **शब्दतत्त्वाश्रया काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपरा ।**
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे।। – ध्वन्यालोक, ३/४८

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे अभाववादियो के विकल्पो को प्रस्तुत करते हुए लिखा है— "तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपिया कैश्चिदुपनागरिकाद्या प्रकाशिता ता अपि गता श्रवणगोचरम्"[1] और यह कहा गया था कि इनके अतिरिक्त ध्वनि और क्या हो सकती है ? इस कारिका के द्वारा ध्वनिकार ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है और ध्वनि क स्वरूप को प्रदर्शित करके कहा है कि वृत्तियो का अन्तर्भाव भी क्योकि ध्वनि के अन्तर्गत हो जाता है। अत ध्वनि का जान लेन पर इन वृत्तियो का स्वरूप स्वय विदित हो जाता है, उसका अलग से लक्षण करने की आवश्यकता नही है।

तृतीय उद्योत की ३३वी कारिका मे आनन्दवर्धन वृत्तियो का सकेत करते हुए कहते है—

रस आदि के अनुगुण रूप से अर्थ और शब्द का औचित्य से युक्त जो व्यवहार है, वे ही ये दो प्रकार की वृत्तियॉ होती है।[2]

निश्चय से व्यवहार को ही वृत्ति कहते है। उनमे रस के अनुकूल औचित्य से युक्त वाच्य के आश्रय से जो व्यवहार है, वे ही ये कैशिकी आदि वृत्तियॉ है। वाचक के आश्रय से जो व्यवहार है, वह उपनागरिका आदि वृत्तियॉ है। निश्चय ही ये वृत्तियॉ रस आदि के तात्पर्य से सन्निवेशित की जाकर नाट्य और काव्य मे किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य को उत्पन्न करती है। रस आदि इन दोनो प्रकार की वृत्तियो के प्राणभूत है। रीति वृत्ति आदि तो इनके शरीरभूत है।[3]

---

१ ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति से

२ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयोद्विविधा स्थिता ।।

— ध्वन्या तृ ३/३३।

३ व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तय । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्या । वृत्तयो हि रसादि तात्पर्येण सन्निवेशिता कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूता इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

—ध्वन्यालोक, ३/३३ की वृत्ति से

'वृत्ति' शब्द की रचना 'वृत्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर होती है, जिसका अर्थ—व्यवहार। काव्य मे दो प्रकार का व्यवहार होता है—शब्द का व्यवहार और अर्थ का व्यवहार। ये दोनो ही प्रकार के व्यवहार रस के अनुरूप सयोजित किये जाते है। इनमे शब्द के व्यवहार को उपनागरिका आदि वृत्ति नाम दिया गया है। इन वृत्तियो का निरूपण कोमल, कठोर—वर्ण, समास असमास आदि के आधार पर किया जाता है। ये वृत्तियॉ तीन है— परुषा, कोमला और उपनागरिका। अर्थ के व्यवहार का अन्तर्भाव कैशिकी आदि वृत्तियो मे किया गया है। भरतमुनि ने सभी प्रकार की चेष्टावो को (अनुभवो को) जो कि अर्थो के आधार पर की जाती है, इनमे सम्मिलित किया है। ये अर्थवृत्तियॉ चार है— कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। ध्वनिकार का कथन है कि इन वृत्तियो का नियोजन अभिनेय काव्यो (नाट्यो) तथा श्रव्य काव्यो— दोनो मे होता है एव ये रस के अनुरूप उचित रूप से सयोजित की जाकर उनमे अतिशय सौन्दर्य का आदान करती है। इस प्रकार काव्य रस तो प्राणभूत है और इतिवृत्ति आदि शरीरभूत है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यहार को वृत्ति कहा है (व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते)। ये दो प्रकार की है— शब्द वृत्तियॉ और अर्थवृत्तियॉ। उपनागरिका आदि वृत्तियॉ क्योकि शब्द के आश्रय से रहती है। अत इनको शब्द वृत्ति कहते है। ये तीन है— उपनागरिका, परुषा और कोमला। भरत के द्वारा कही गयी कैशिकी आदि वृत्तियॉ अभिनयाश्रित हाने से अर्थ के आश्रय से रहती हैं, अत इनको अर्थवृत्ति कहते है। ये चार है— कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती और भारती। उपनागरिका आदि वृत्तियो का सम्बन्ध शब्दो और वर्णों की योजना से है, अत वे शब्द वृत्तियॉ है। कैशिकी आदि का सम्बन्ध उनमें निहित अर्थों से रहता है, अत वे अर्थवृत्तियॉ है।

ध्वनिकार का मन्तव्य है कि ये दोनो प्रकार की वृत्तियॉ व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति, रस की अभिव्यक्ति और रसानुभूति की साधनमात्र है, स्वय मे साध्य नहीं है। इनका अन्तर्भाव ध्वनि मे ही हो जाता है, अत

इनका पृथक् स्वतत्र रूप मे प्रतिपादन करने की आवश्यकता नही है। इस प्रकार रीति, वृत्ति आदि मे ध्वनि का समावेश नही हो सकता, अपितु उनका ही अन्तर्भाव ध्वनि मे होता है। अत आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि उस ध्वनि का स्वरूप—लक्षण करना ही चाहिए। ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे ध्वनि के स्वरूप का कथन करते है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व

स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।[1]

आनन्दवर्धन ने यह बताया है कि काव्य मे मुख्य रूप से दो प्रकार के अर्थ होते है—वाच्य और प्रतीयमान। इन दोनो अर्थो मे जब प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य काव्य मे चमत्कारी रूप मे अभिव्यक्त होता है, तभी वह काव्य ध्वनि काव्य कहलाता है।

ध्वनि का मूल 'प्रतीयमान अर्थ' जो कि महाकवियो की वाणी मे कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रूप मे काव्य के विभिन्न अगो—गुण, अलकार आदि से भिन्न होकर शोभायमान होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[2]

यही अर्थ सहृदयों के हृदयो को आनन्दित करने वाला होता है। यही अर्थ काव्य की आत्मा है। यह अर्थ आदि कवि वाल्मीकि की वाणी मे काव्य के रूप मे प्रस्फुटित हुआ था, जबकि उनका कौञ्च—युगल के वियोग से उत्पन्न शोक, श्लोक के रूप मे परिणत हो गया था।[3]

---

१ ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत/कारिका—१

२ ध्वन्यालोक—१/४

३ **काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादि कवे· पुरा।**
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ।। ध्वन्यालोक १/५

ध्वनिकार के मत से यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है— रस, अलकार और वस्तु— स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्र, अलकाररसादयश्च इत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते।[१] इसी आधार पर ध्वनिकार ने ध्वनि के भी तीन भेद किये— रसध्वनि, अलकारध्वनि और वस्तुध्वनि। इन तीनो मे उन्होने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्व दिया है। महाकवियो की रचनाओ से विभिन्न उदाहरणो को प्रस्तुत करके ध्वनिकार ने इस प्रतीयमान अर्थ के द्वारा काव्य के चारूत्व का प्रतिपादन किया था।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए भी और उसको काव्य मे सबसे अधिक महत्व प्रदान करते हुए भी ध्वनिकार ने अलकार, गुण, रीति वृत्ति आदि तत्त्वो की उपेक्षा नही की। काव्य मे उनका भी उचित स्थान निर्धारित किया, परन्तु ध्वनिकार का मत था कि ये सभी तत्त्व काव्य मे ध्वनि के उत्कर्ष के रूप मे रहते है। उन्होने काव्य मे ध्वनि को केन्द्र–बिन्दु माना और गुण, अलकार आदि का विधान इनके उपकारक के रूप मे किया।

आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनिकार के नाम से स्मरण किया जाता है और उनको ध्वनि के प्रतिष्ठाता का प्रशसनीय पद प्राप्त है, परन्तु प्राचीन प्रमाणो से यह भी पुष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी समालोचको ने ध्वनि को काव्य का प्रमुख तत्व के रूप मे स्वीकार कर लिया था।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे ही इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि विद्वज्जन ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिपादित कर चुके है।[२]

इस कथन मे "बुधै" पद के बहुवचन से यह भी स्पष्ट है कि यह प्रतिपादन किसी एक ही विद्वान ने नही किया था, अपितु अनेक विद्वानो ने

---

१ ध्वन्यालोक– १/४

२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व। बुधै काव्यतत्त्वविद्भि काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सज्ञित, परम्परया य समाम्नातपूर्व सम्यक् आ समन्तात् म्नात प्रकटित।

–ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति।

किया था। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या मे यह कहा कि यह प्रतिपादन परम्परा से चला आ रहा था, यद्यपि किसी ग्रन्थ विशेष मे इसको नही लिखा गया था।[1]

ध्वन्यालोक की अन्य कारिकाओ तथा उनकी वृत्ति से भी ध्वनि की यह प्राचीनता लक्षित होती है। एक स्थान पर ध्वनिकार लिखते है कि यदि ध्वनि का लक्षण पहले आचार्यो ने कर दिया है तो इससे हमारे पक्ष की सिद्धि ही होगी।[2] ध्वनिकार का यह भी कथन है कि भरत ने नाट्यशास्त्र मे काव्य के निबन्धन को रस आदि की योजना के तात्पर्य से कहा था।[3] यह रसध्वनि ही है, जो कि काव्य निर्माण की कला की आत्मा है। ध्वनिकार का यह कथन है कि रीतिवादी आचार्यो को भी इस ध्वनि रूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था, परन्तु वे इस तत्व की समुचित रूप से व्याख्या नही कर सके और उन्होने रीतियो को प्रवर्तित कर दिया।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे लिखा है कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित हो, ऐसा नही है। महान कवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि भी इससे परिचित थे, क्योकि उनकी कृतियो मे ध्वनि तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है। यद्यपि काव्य लक्षणकारो ने पहले उसका उन्मीलन नही किया था।[4]

ध्वनि के आधार प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलकारवादी परिचित थे। जिन भामह आदि आचार्यो ने अलकारो को ही काव्य की शोभा का

---

१ बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधान स्यात्, न तु भूयसा तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। अविच्छिन्नेन प्रवाहेन तैरूक्त विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्राय ।
— ध्वन्यालोक–१/१ पर लोचनटीका।

२ लक्षणेऽन्यै कृते चास्य पक्षससिद्धिरेव न । –ध्वन्यालोक १/१६

३ एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धन भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।
–ध्वन्यालोक ३/३२ की वृत्ति

४ तस्य हि ध्वने स्वरूप सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भुतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायण महाभारत प्रभृतिनिलक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहार लक्षयता सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभता प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।
–ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति।'

आधायक तत्व माना था, उन्होने भी अनेक अलकारो मे पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशसा आदि मे प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया था। इसी आधार पर अलकारवादियो ने ध्वनि को अलकारो मे अन्तर्भावित का करने का प्रयास किया था, परन्तु इससे वे मुख्य समस्या का समाधन नही कर पाये।[1] उद्‌भट ने भी रस आदि ध्वनियो को रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलकारो मे अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।

समालोचको मे ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पूर्व भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी। यह तथ्य इस बात से भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ मे ध्वनि विरोधी मतो का उल्लेख करके इनका खण्डन किया। ध्वन्यालोक की पहली कारिका मे ही ध्वनि विरोधी तीन मतो—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का एव इनके विभिन्न पक्षो का ध्वनिकार ने उल्लेख किया है और इसके पश्चात प्रबल युक्तियो से इनका खण्डन किया है।

ध्वनि विरोधियो के खण्डन के प्रसग मे ध्वनिकार ने किसी प्रबल ध्वनि—विरोधी का एक श्लोक उद्‌घृत किया है।[2] अभिनवगुप्त के अनुसार इसका नाम मनोरथ था। प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित है। 'राजतरगिणी' के श्लोक ४/४६६ के अनुसार मनोरथ को राजा जयापीड का मत्री बताया गया है। इसके पश्चात् श्लोक ४/६७१ मे यह बताया गया है कि मनोरथ ने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितादित्य का उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। अत मनोरथ का समय ८०० ई के लगभग रहा होगा। मनोरथ के श्लोक मे ध्वनि का विरोध होने और ध्वनि विरोधियो का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि

---

१ ध्वन्यालोक, १/१३ की वृत्ति और उस पर अभिनवगुप्त की टीका।

२ तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोक—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन् मन प्रह्लादि सालकृति ,
व्युत्पन्नै. रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्।
काव्य तद्‌ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन् जडो।
नोविद्‌मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्ट· स्वरूप ध्वने.।। — ध्वन्या १/१ की वृत्ति)

आनन्दवर्धन से काफी पहले ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा होने लगी होगी। यद्यपि यह निश्चित सा है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रचलन आनन्दवर्धन से पूर्व ही हो गया था, तथापि यह भी यथार्थ है कि इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने और नि सन्दिग्धता से प्रतिपादित करने का कार्य आनन्दवर्धन ने ही किया था। ध्वनिकार ने पहले तो कारिकाओ मे ध्वनि का अति सक्षिप्त परिचय दिया और इसके पश्चात वृत्ति और उदाहरणो के द्वारा इसके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की। यह भी ध्वनिकार के लेखन से स्पष्ट है कि ध्वनि के मार्ग का निर्माण उन्होने नही किया था, अपितु इसको दिखाया भर था।[1] तथा ध्वनि के तत्व की केवल व्याख्या भर की थी।[2] परन्तु उनकी यह व्याख्या इतनी स्पष्ट एव युक्ति सगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार एव ध्वन्याचार्य का प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि का सुस्पष्ट एव निस्सदिग्ध प्रतिपादन कर दिया था, तथापि उत्तरवर्ती कुछ समालोचको ने ध्वनि के खण्डन का प्रयास किया था। इनमे , भट्टनायक, कुन्तक आर महिमभट्ट प्रमुख थे। भट्टनायक ने तो व्यञ्जनावृत्ति को ही स्वीकार नही किया, कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा बताया तथा महिमभट्ट न व्यञ्जनावादियो के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया। इन आचार्यो ने ध्वनि का विरोध करने के लिए जिन युक्तियो को प्रस्तुत किया, उनका खण्डन अभिनवगुप्त और मम्मट ने किया। क्षेमेन्द्र ने भी काव्य मे ध्वनि की अपेक्षा औचित्य को अधिक महत्त्व दिया था, परन्तु उसका मत भी अधिक प्रचलित नही हो सका। आचार्य मम्मट की प्रबल

---

१ **इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालकारशोभाभृतो।**
यस्माद् वस्तु समीहत सुकृतिभि सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिदर्शित.,
सोऽय कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योस्तु भव्यात्मनाम्।। ध्वन्या, ४/१७ की वृत्ति

२ **सत्कात्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त**
कल्प मनस्सु परिपक्वधिया यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो,
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान ।। –ध्वन्यालोक ४/१७ की वृत्ति

युक्तियो ने ध्वनि के विरोधी आचार्यो की युक्तियो का जो प्रबल खण्डन किया था, उसने ध्वनि विरोधियो को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। इसके पश्चात ध्वनि का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। मम्मट के पश्चात सभी प्रमुख आचार्यो—रूय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ नरेन्द्रप्रभसूरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने निसदिग्ध रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।

ध्वनि की मूल प्रेरणा

ध्वनि के सिद्धान्त की मूल प्रेरणा ध्वनिवादियो को वैयाकरणो के स्फोट सिद्धान्त से प्राप्त हुई थी। ध्वनि के लक्षण (१ १३) मे 'सूरिभि कथित' पदो की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धन का कथन है कि यह ध्वनि सिद्धान्त यो ही अप्रामाणिक रूप से प्रचलित नही हो गया है, अपितु विद्वानो ने इस उक्ति को प्रारम्भ किया था। सबसे प्रधान विद्वान् वैय्याकरण है। जोकि सुनाई देने वाले पदो मे ध्वनि सज्ञा का व्यवहार करते है। वैयाकरणो के मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थतत्व—विद् समालोचको ने उनके अनुसार ही वाच्य, सम्मिश्र (व्यग्यअर्थ), व्यञ्जना व्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा है।[1]

वैयाकरणो से ही ध्वनिवादियों ने ध्वनि के सिद्धान्त को ग्रहण किया था, इसकी पुष्टि आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश मे की थी। 'बुधै कथित'[2] की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा—बुध का अभिप्राय वैयाकरणो से है। उन्होने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्गय को व्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले दूसरे साहित्यकारो

---

१ सूरभि कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्ति, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाधते। प्रथमे हि विद्वासा वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यस्तन्मतनुसारिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त।

— ध्वन्यालोक १/१३ की वृत्ति से।

२ काव्यप्रकाश १/४

ने भी वाच्य अर्थ का तिरस्कार करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा।[1]

प्राचीन काल से ही व्याकरण को सब शास्त्रो का मूल कहा जाता रहा है और किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य रहा है। भतृहरि के अनुसार व्याकरण सब शास्त्रो का दीपक है। इन वैयाकरणो ने सुनाई देने वाले शब्दो को ध्वनि माना तथा ध्वनिवादियो ने शब्दार्थ युगल को।

ध्वनि का आधार 'स्फोटवाद' से प्रारम्भ होता है। स्फोट पद की व्युत्पत्ति है– 'स्फुटयति अर्थ यस्मादिति स्फोट । अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है, वह स्फोट है। स्फोटवाद एक दर्शन कहा जाता है। इसके प्रारम्भ को निश्चय से नही कहा जा सकता। तथापि पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र 'अवङ्स्फोटायनस्य' (६–१–१२३) के द्वारा स्फोटायन आचार्य को इसका प्रथम प्रतिपादक कहा जाता है। स्फोटायन की व्याख्या 'काशिका' की 'पदमञ्जरी' टीका मे हरदत्त ने इस प्रकार की है– 'स्फाटोऽयन परायण यस्य स स्फोटायन स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्य ।''

स्फोटवाद के अनुसार शब्द नित्य है तथा पाणिनि, यास्क, कात्यायन और पतञ्जलि ने भी शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है। वैयाकरण शब्द को नित्य, एक और अखण्ड मानते हे।[2]

पतञ्जलि के अनुसार शब्दो का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है और श्रोतृ के द्वारा प्राप्त होता है जो कि आकाश का स्थान है।[3] हमारे कर्ण प्रदेश मे जो स्थान है, उसी मे शब्द की प्राप्ति होती है, परन्तु इस प्रसग मे एक प्रश्न उत्पन्न होता है। किसी भी शब्द की रचना वर्णो द्वारा होती है। शब्द

---

१ इदमिति काव्य बुधैर्वैयाकरणै प्रधानभूतस्फोटरूपव्यग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
– काव्यप्रकाश १/४ की वृत्ति

२ नित्याश्च शब्दा । –महाभाष्य आह्निक–२

३ श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेश शब्द । एक च पुनराकाशम्।
– महाभाष्य आह्कि–२

का उच्चारण करने पर क्रमश वर्णो का उच्चारण होता है और वे शब्द क्रमश कर्ण के आकाशदेश मे पहुँचते हुए बुद्धि द्वारा ग्रहीत होते है। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुँचने के पश्चात द्वितीय वर्ण के पहुँचने पर प्रथम वर्ण नष्ट होता जाता है। इस प्रकार शब्द का उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण ही शेष रह जाता है। इस अन्तिम वर्ण से शब्द के अर्थ की प्रतीति कैसे हो ? यदि यह कहा जाय कि इस अन्तिम वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति होती है, तो पूर्व वर्णो की व्यर्थता सिद्ध होती है, तथा यह कहा जाय कि सभी वर्णो के समुदाय से अर्थ की प्रतीति होती है तो शब्द का उच्चारण करने पर सब वर्ण उपस्थित नही रहते। उदाहरण के रूप मे गौ ' शब्द को ले सकते है।

'गौ ' पद मे तीन वर्ण है 'ग', 'औ' और विसर्ग ()।

उच्चारण करने पर इनकी स्थिति एक साथ नही हो सकती। 'ग' का उच्चारण करने के बाद 'औ' वर्ण का उच्चारण करने पर 'ग' वर्ण नष्ट हो जाता है तथा विसर्ग () का उच्चारण करने पर 'औ' वर्ण नष्ट हो जाता है। इस विसर्ग से अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर 'स्फोटवाद' द्वारा दिया गया है। शब्द क्योकि बुद्धि से ग्रहण किया जाता है अत 'ग' और' 'औ' का उच्चारण करने के अनन्तर 'विसर्ग' () का उच्चारण करने पर इन पहले वर्णो के नष्ट हो जाने पर भी इनका सस्कार बुद्धि मे बना रहता है। अन्तिम वर्ण का अनुमान पूर्व वर्ण के सस्कारो के साथ मिलकर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। पतञ्जलि के अनुसार यह शब्द स्फोट है तथा ध्वनि उसका गुण है। आचार्य भर्तृहरि ने ग्रहीत शब्दो मे दो शब्द माने है, एक तो निमित्त है तथा दूसरा अर्थ को प्रयुक्त करता है।

अभिप्राय यह है श्रोता की बुद्धि मे अन्तिम वर्ण सहित सम्पूर्ण शब्द स्फोट मे विद्यमान रहता है, यह ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है। यह ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक है और अर्थबोध कराती है। स्फोट व्यङ्ग्य होता है तथा ध्वनि व्यञ्जक है। यदि इसको सूक्ष्मता से देखा जाय तो अन्तिम

ध्वनि व्यञ्जक है। यदि इसको सूक्ष्मता से देखा जाय तो अन्तिम वर्ण का अनुरणन ही ध्वनि है, जो कि पूर्व वर्णो के सस्कार सहित अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ सम्पूर्ण शब्द के अर्थ का बोध कराती है।

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप को भतृहरि ने और भी अधिक स्पष्ट किया है–

'जो इन्द्रियो के (जिह्वा आदि) के सयोग और वियोग से उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है और इस स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते है।

इसको हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है। शब्दो की उत्पत्ति इन्द्रियो के सयोग या वियोग से होती है। मुख मे जिह्वा तालु, होठ आदि इन्द्रियो के परस्पर टकराने या अलग होने से शब्द उच्चारित होते है, परन्तु शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह श्रूयमाण नही होता। उच्चरित शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होने से पूर्व यह तरगो के रूप मे एक नये शब्द को उत्पन्न कर देता है, जो कि चारो ओर फैल जाती है। यह शब्द नष्ट होकर और अधिक व्यापक शब्द तरग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इन शब्द तरगो का विस्तार क्रमश बढता जाता है, जो कि अन्त मे श्रोता के कर्णविवर मे प्रवेश करती है। यह स्थिति उसी प्रकार की है, जैसे जलतरग मे पत्थर फेकने पर एक जल तरग का घेरा उत्पन्न होता है, वह घेरा और बडी जल–तरग के घेरे को उत्पन्न करता है और अन्त मे वर्तुलाकार जल तरगे सम्पूर्ण सरोवर को व्याप्त कर लेती है। इसको 'वीचीसन्तानन्याय' कहते है। इस प्रकार के घण्टे के अनुरणन रूप यह ध्वनि स्फोट रूप शब्द के अर्थ को प्रकट करती है। इसी को भर्तृहरि ने और अधिक स्पष्ट किया है–

अनिवायनीय एव व्यक्त रूप स्फोट रूप ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययो से ध्वनि के द्वारा स्फोट रूप शब्द के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि स्फोट श्रूयमाण वर्णरूप ध्वनियो से ग्रहण के अनुकूल है और अनिर्वचनीय प्रत्ययो द्वारा ग्रहण करके प्रकाशित किया जाता है और इससे स्फोट के स्वरूप का अवधारण होता है। इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप का अवधारण होता है। इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि कहते है। स्फोट व्यग्य है एव ध्वनि व्यञ्जक है। इनके अनुकरण मे आलकारिक शब्द और अर्थ दोनो के व्यञ्जक होने के कारण दोनो को ध्वनि कहते है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन की ध्वनि की परिभाषा से स्पष्ट है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित.।।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक मे इसी की व्याख्या करते हुए कहते है— यत्रार्थो वाच्यविशेष वाचकविशेष शब्दो वा, तमर्थ व्यङ्क्त स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

जहॉ वाचक शब्द अपने आपको तथा अपने अर्थ को और वाच्य अर्थ अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा जाता है।

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का लक्षण प्रतीयमान और वाच्य अर्थ के अतिशय के आधार पर किया जाना चाहिये काव्य मे दो प्रकार के मुख्य अर्थ होते है— वाच्य और प्रतीयमान। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित है, तब वह काव्य ध्वनि होगा। यदि वह अतिशयित नही, तब वह काव्य ध्वनि नही होगा, उसको गुणीभूत व्यङ्गय काव्य कहेगे।[2] यद्यपि वाच्य और प्रतीयमान दोनो ही अर्थ सहृदय श्लाध्य है[3] तथापि इन

---

१ ध्वन्यालोक १/१३

२ **प्रकारोऽन्योगुणीभूतव्यङ्ग्य. काव्यस्य दृश्यते।**
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत्।।— ध्वन्यानलोक ३/३५

३ **योऽर्थ. सहृदयश्लाध्य काव्यात्मेति व्यवस्थित।**
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्वन्यालोक १/३

दोनो मे प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्त्व है और यह काव्य के प्रसिद्ध अग शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलौकिक ही वस्तु है, जो कि काव्य मे उसी प्रकार निहित रहता है, जिस प्रकार अगनाओ मे लावण्य निहित रहता है।[१]

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यड्गय अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यह है कि जहॉ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यड्ग्य अर्थ मे चमत्कार का चारूत्व अतिशयित हाता है। इसको ध्वनिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"चारूत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यड्ग्याः प्राधान्यविवक्षा।"

वाच्य और व्यड्ग्य अर्थो मे प्रधानता या अतिशयता उनके चारूत्व के अतिशय के कारण होती है। अर्थात् जहॉ वाच्य अर्थ का चारूत्व अधिक हो, वहॉ वाच्य अर्थ अतिशयित होता है और जहॉ व्यड्गय अर्थ का चारूत्व अधिक हो, वहॉ व्यड्ग्य अर्थ अतिशयित होता है।

ध्वनिकार ने इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर काव्य के दो मुख्य भेद किये थे– ध्वनि और गुणीभूत व्यड्ग्य। उन्होने यह भी बताया कि जिस काव्य मे प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नही है, अपितु शब्दालकारो या अर्थालकारो का चतत्कार प्रदर्शित करने के लिए कवि काव्य की रचना करता है, वह चित्रकाव्य होता है। वस्तुत आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को काव्य की सज्ञा नही देना चाहते, उसको वे काव्य की अनुकृति मात्र समझते है तथा ध्वनि और गुणीभूत व्यड्ग्य को ही काव्य प्रतिपादित करते है।[२]

आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार ध्वनि का लक्षण किया था, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने उसका प्राय अनुकरण किया। इनमे मम्मट ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया–

---

१ **प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाड्गनासु।। – ध्वन्यालोक १/४

२ ततोऽन्यदरसभावादितात्पर्यरहित व्यड्ग्यार्थ विशेषप्रकाशनशक्तिशून्य च काव्य केवलवाच्यवाचकमात्राश्रयणोपनिबद्धमालेख्य प्रख्य यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्य काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।। –ध्वन्यालोक ३/४३ की वृत्तियो से

'इदमुत्तमतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।'[1]

जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है तो यह उत्तम काव्य कहलाता है तथा इसी को विद्वान् मनुष्य ध्वनि कहते है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते है–

'न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत।' अर्थात् वाच्य अर्थ को तिरस्कृत करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ को व्यञ्जित करने मे समर्थ शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा जाता है।

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्म्ट ने काव्य के तीन भेद किये है। जहॉ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित होता है, वह उत्तम ध्वनि काव्य है। जहॉ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित नहीं होता, अर्थात् वाच्य अर्थ का चारूत्व अधिक है या दोनो अर्थो का चारूत्व समान है, वह मध्यम, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है।[2] जहॉ प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है, शब्दालकार या अर्थालकार के चमत्कार को प्रदर्शित किया गया है, उसको चित्रकाव्य कहते है, जो शब्द चित्र एव वाच्य चित्र दो प्रकार का है अधम कहा गया है।[3]

इस प्रकार मम्मट ने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर काव्य के स्पष्ट रूप से तीन भेद–ध्वनि (उत्तम काव्य), गुणीभूतव्यङ्य (मध्यम काव्य) तथा चित्र (अधम) काव्य स्वीकार किये है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेद प्रदर्शित करने मे प्रतीयमान अर्थ का आधार लेकर मम्मट का अनुसरण तो किया, परन्तु कुछ भेद भी कर दिया है। उन्होने काव्य के तीन के स्थान पर चार भेद किये। जहॉ शब्द और अर्थ अपने को अभिव्यक्त करते है, वह प्रथम उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य है। जहॉ व्यङ्ग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार को उत्पन्न करता

---

१ काव्यप्रकाश– १/४

२ **अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।** –काव्यप्रकाश १/५

३ **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्य त्ववर स्मृतम्।।** –काव्यप्रकाश १/५

है वह दूसरा उत्तम गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य है। जहाँ व्यङ्ग्य के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलङ्कार चमत्कृति का हेतु है, वह तीसरा मध्यम अर्थ चित्रकाव्य है। जहाँ अर्थ के चमत्कार से उपस्कृत शब्दालकार की चमत्कृति है, वह चौथा अधम शब्द चित्र काव्य है।[1]

विश्वनाथ ने भी काव्य के भेद प्रतिपादित करने मे आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए प्रतीयमान अर्थ को आधार बनाया। उसके अनुसार उत्तम काव्य वह है, जहाँ व्यङ्गय अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अतिशयित होता है। उसी को ध्वनि कहते है।[2] दूसरा काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है, जहाँ कि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नही है।[3]

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य मे दो प्रकार के अर्थ बताये है– वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का बोध शब्दशास्त्र के ज्ञान से होता है तथा प्रतीयमान अर्थ सहृदयसवेद्य है। यह अर्थ ही काव्य मे अधिक चारूत्व का हेतु है। जिस काव्य मे प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान, अतिशयित या चारूत्व के अधिक्य से युक्त होता है, उस काव्य को ध्वनि कहते है। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है– वस्तु, अलकार और रस। यद्यपि अनेक ऐसे अलकार है, जिनमे प्रतीयमान अर्थ भी होता है, परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव उनमे नही हो सकता।

ध्वनिकार का कथन है कि ध्वनि के साथ–साथ गुणीभूत व्यङ्ग्य को भी जानना चाहिए। गुणीभूतव्यङ्ग्य के सरस होने के कारण वे उसको भी ध्वनि रूप ही मानते रहे हैं। अत गुणीभूतव्यग्य सहित ध्वनि के मार्ग को

---

१ **शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्ग्स्तदाद्यम्।**
यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्।
यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकारणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्।
यत्रार्थचमत्कृतयुपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधान तदधर्म चतुर्थम्।

– रसगगाधर प्रथम आनन

२ **वाच्यादतिशयिनि व्यङ्गये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।।**

– साहित्य दर्पण ४/२

३ **अपर तु गुणीभूतव्यग्य वाच्यादनुत्तमे व्यङ्गये।।**

– साहित्य दर्पण ४/१३

जानने से कवियो की प्रतिभा मे अनन्तता आती है।[1] यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि ध्वनि के मार्ग के ज्ञान से कवियो की प्रतिभा अनन्त होती है, इस कथन मे एक शका उत्पन्न हो सकती है– ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य के मार्ग तो काव्यनिष्ठ होते है जबकि प्रतिभागुण कवि–निष्ठ होता है। इस प्रकार इन दोनो के अधिकरण अलग–अलग है। भिन्न अधिकरण मे रहने वाले ध्वनि के मार्ग से अन्य अधिकरण मे विद्यमान प्रतिभा की अनन्तता कैसे हो सकती है ? एक व्यक्ति जो कर्म करेगा, उसका फल उसी को प्राप्त होगा, अन्य को नही। इसी प्रकार ध्वनि के मार्ग का फल कवि की प्रतिभा को कैसे प्राप्त हो सकेगा, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार कहते है कि इन ध्वनि के और गुणीभूतव्यङ्ग्य मे से किसी एक के भी प्रकार से अलकृत होती हुई कवि की वाणी पुराने अर्थो के अन्वय से युक्त होती हुई भी निश्चय से नवीनता को प्राप्त होती है।[2]

भिन्न काव्यरूप अधिकरण मे स्थित ध्वनि या गुणीभूतव्यग्य के मार्ग से अन्य कवि रूप अधिकरण मे स्थित प्रतिभा की अनन्तता कैसे होगी, इसका उत्तर यह है कि प्रतिभा की अनन्तता ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य के मार्ग से नही होती, अपितु उस मार्ग के ज्ञान से होती है। यह ज्ञान क्योकि कविनिष्ठ ही होता है, अत ज्ञान और प्रतिभा के समान अधिकरण वाला होने से इस ज्ञान से कवि की प्रतिभा अनन्नता को प्राप्त कर सकती है।

ध्वनिकार ने ध्वनि के कुछ भेदो के उदाहरण देकर यह बताया है कि इन भेदो का आश्रय लेने से प्राचीन अर्थों से युक्त काव्य भी नवीनता को प्रकट करते है। इसी प्रकार से अन्य प्रभेदो का आश्रय लिया जा सकता है। रस आदि के भेद अत्यधिक विस्तृत है। अनेक प्रकार के रस है, भाव हैं, रसाभास और भावाभास है, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि आर भावशबलता

---

१ ध्वनेर्य सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शित ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीना प्रतिभागुण ।।

– ध्वन्यालोक, ४/१

२ अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वाथन्वयवत्यापि।। – ध्वन्यालोक ४/२

है, इन सबके असख्य विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव है, जिससे कि रस आदि का मार्ग अनन्त हो जाता है। यद्यपि प्राचीन काल मे असख्य कवि हुए है और उन्होने अनेक काव्यो की रचना करके काव्य के मार्ग को परिमित कर दिया है, तथापि इस अपरिमित रस आदि के आश्रय से वह काव्यमार्ग अनन्तता को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने पूर्वाचार्यो द्वारा प्रतिपादित रीतियो एव वृत्तियो का खण्डन करके तथा प्रदेशो पर आधारित काव्यमार्गो को अस्वीकार करके काव्य के दो प्रकार के अर्थो के आधार पर 'ध्वनि' तत्त्व की स्थापना की तथा उसे काव्य की आत्मा माना। यही ध्वनिमार्ग, जिसे विभिन्न पूर्वाचार्यो के विचारो की समालोचना के उपरान्त प्रतिपादित किया गया 'समालोचना मार्ग' के नाम से अभिहित किया गया है।

चतुर्थोन्मेष
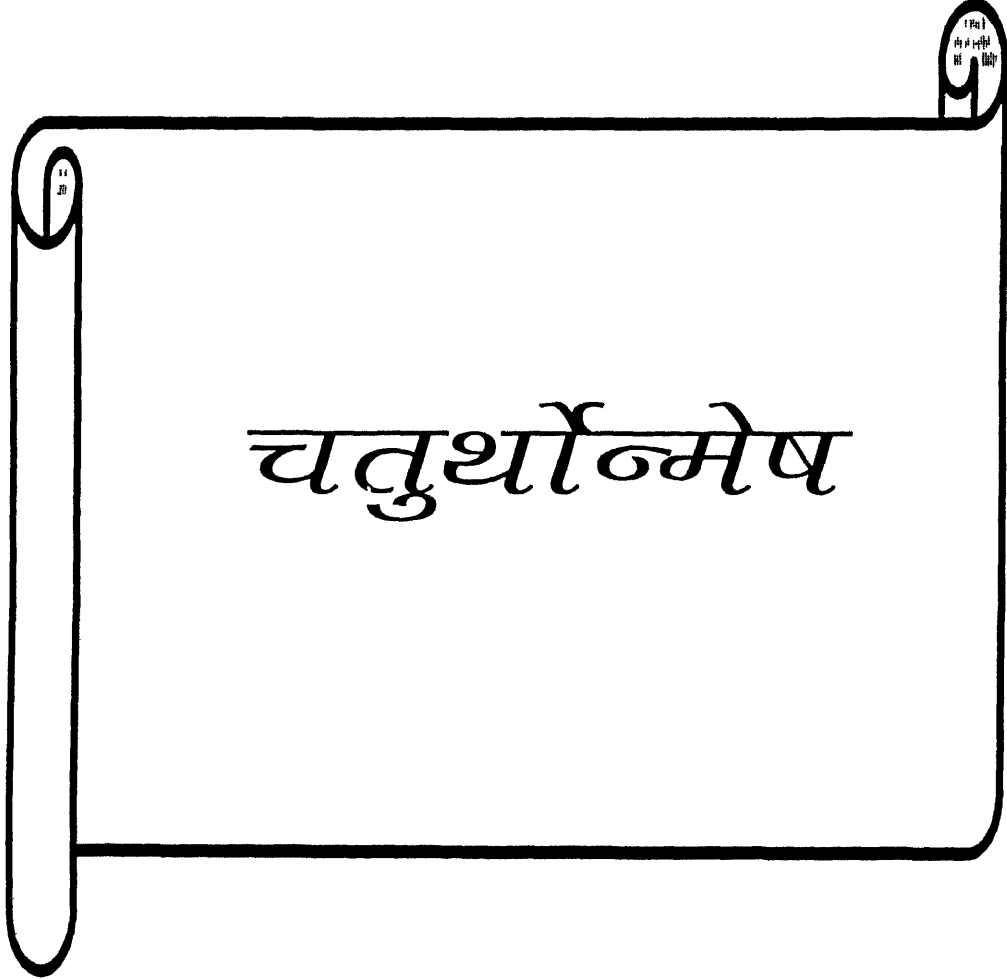
काव्यमार्ग एवं रस

(क) रस सिद्धान्त का प्रवर्तन

काव्यशास्त्र के इतिहास मे रस–सिद्धान्त का प्रवर्तन सबसे पहले भरत मुनि ने किया था। यद्यपि राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' मे लिखा है कि भरत ने रूपको का निरूपण किया था जबकि रसो का प्रथम निरूपण नन्दिकेश्वर ने किया था।[1] तथापि नन्दिकेश्वर का रस–विषयक कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नही है। वर्तमान समय मे भरतमुनि का लिखा जो 'नाट्यशास्त्र' उपलब्ध है, उसमे रूपक तथा रस दोनो का विवेचन किया गया है। अत रस सिद्धान्त का आदि प्रवर्तक भरत को ही माना जा सकता है।

भरत ने रस के सम्बन्ध मे जिन सिद्धान्तो को स्थिर किया था, उन्ही की व्याख्या उत्तरवर्ती आचार्यों ने विस्तार के साथ की थी। भरत के अनुसार रस के बिना किसी अर्थ का प्रवर्तन काव्य मे नही होता।[2] अभिनवगुप्त ने इस पर टीका करते हुए लिखा था कि सम्पूर्ण रूपक मे रस ही एकमात्र सूत्र की तरह प्रतीत होता है।[3] अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य ही रस है तथा रस का समुदाय ही नाट्य है।[4] यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र मे रस का निरूपण रूपक के ही हेतु से किया गया है और भरत ने आठ रसो को 'अष्टौ नाट्यरसा' कहा है, तथापि भरत के समय तक नाट्य तथा काव्य का इस प्रकार विभाजन नही हुआ था और इन दोनो पदो को

---

१ रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर। –काव्यमीमासा, पृ ४–५

२ न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते। –नाट्यशास्त्र, अध्याय–६

३ एक एव परमार्थतो रस सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति।

–उपर्युक्त पर अभिनव भारती टीका

४ नाट्यात् समुदायरूपाद् रसा। यदि वा नाट्यमेव रसा। रस समुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसा काव्येऽपि।

– 'अष्टौ नाट्यरसा स्मृता' पर अभिनवभारती टीका

समानार्थक समझा जाता था। भरत ने नाट्य के लिए काव्य पद का व्यवहार अनेक स्थानो पर किया था और अभिनवगुप्त ने इसका समर्थन किया था। इसीकारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त को उत्तरवर्ती आचार्यो ने विकसित तथा पल्लवित किया और रस को काव्य का अनिवार्य तत्व माना, परन्तु भामह, दण्डी, उद्भट्, रूद्रट आदि प्राचीन आचार्यो ने काव्य एव नाटक मे भेद किया। इसी कारण इस सिद्धान्त से परिचित होते हुए भी उन्होने रस का केवल नाट्य के लिए ही अनिवार्य माना तथा काव्य के लिए अलकारो की अनिवार्यता प्रतिपादित की। काव्य मे रस का समावेश उन्होने अलकारो के अन्तर्गत कर लिया था।

(ख) 'रस' शब्द के विभिन्न अर्थ

सस्कृत साहित्य मे 'रस' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे अति प्राचीन काल से ही किया जाता रहा था। वेद, वेदाग, ब्राह्मण, उपनिषद्, आयुर्वेद, रामायण, महाभारत, आदि साहित्य मे रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे किया गया है। कोश ग्रन्थो के अनुसार 'रस' शब्द के अनेक अर्थ है— स्वाद, जल, वीर्य, श्रृगार, आदि काव्य रस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, तिक्त आदि ६ भोजन के रस, परमात्मा आदि।

गर्भोपनिषत् मे रस के अर्थ इस प्रकार है— सार—आसव, धातु—भस्म, हर्ष, आनन्द। 'रस' शब्द के पाच मुख्य अर्थ हैं—१ पदार्थ—रस, यथा षड्रस अर्थात् कषाय, तिक्त, कटु, लवण, अम्ल और मधुर, २ आयुर्वेदीय रस— पारद, शरीर की एक धातु। रसाच्छोणित शोणितान्मास, मासान्मेदो, मेदस स्नायव स्नायुभ्योऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जात शुक्रम। ३ कामशास्त्र मे रस रति रसो रति प्रीतिर्भावो रागो वेग समाप्तिरिति— पर्याया। सप्रयोगो रत रह शयन मोहन सुरत पर्याया। ४ भक्ति रस अथवा ब्रह्मानन्द और, ५ साहित्य—रस अथवा काव्यानन्द, सहृदयमन प्रीति, आत्म विश्रान्ति, मनोरजन।

'रस' शब्द 'रस' धातु और 'अच्' (घ) प्रत्यय से निष्पन्न है। अतएव इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है— 'आस्यते इति रस' अर्थात्

वह जो आस्वादित किया जाय, अथवा 'रस्यते इति रस' इस प्रकार रस मे दो विशेषताएँ निहित हैं।— आस्वाद्यत्व और द्रवत्व वेद,उपनिषद् और ब्राह्मणो मे रस शब्द का प्रयोग तो मिलता है, किन्तु काव्यानन्द के अर्थ मे नही। तैत्तिरीय उपनिषद् मे लिखा है कि वह (ब्रह्म) निश्चय ही रस है और वह रस (सार) को प्राप्त करके आनन्दित होता है।[1] इसकी व्याख्या मे शकराचार्यो का कहना है कि जिस प्रकार मधु आदि लौकिक रसो से मनुष्य आनन्दित होता है, उसी प्रकार परमात्म रूप रस को पाकर योगी जन परम आनन्द को प्राप्त करते है। वैदिक साहित्य मे श्रृगार आदि साहित्यिक रसो के लिए भी रस पद के प्रयोग हुए है और उनसे साहित्यिक मनोभावो का निर्देश मिलता है। भरत ने रूपको की रचना मे रस को वेदो से विशेष रूप स अथर्ववेद से ग्रहण किया था, इसका उल्लेख उन्होने स्वय किया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 'रस' और 'आनन्द' भिन्न पदार्थ है और रस के पश्चात आनन्द की प्राप्ति होती है। भरतमुनि ने रस का जो विवेचन किया है, वह दृश्यकाव्य के दृष्टिकोण से है। व्याकरण के अनुसार 'रस' पद की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जा सकती है—

१. **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः**- इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन पदार्थो का आस्वादन किया जाता है, वे रस हैं। इस प्रकार परमात्म रूप रस, मधुर पदार्थ, सोम, गन्ध, मधु आदि पदार्थो को रस कहा जा सकता है।

२. **रस्यते अनेन इति रसः** - अर्थात् जिन पदार्थो के द्वारा आस्वादन किया जाता है, उनको भी रस कहते है। इस आधार पर शब्द, राग, वीर्य, शरीर, आदि को रस कह सकते है।

३. **रसति रसयति वा रसः** - जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है, उसको रस कहते है। इस प्रकार पारद, जल, शरीर की रस धातु या अन्य द्रव पदार्थों को रस कहते है।

---

१ **रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।** – तैत्तिरीयोपनिषद्– २,७

२ **जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।**
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। – नाट्यशास्त्र, १/१७

४ **रसन रसः आस्वादः** - जो आस्वाद है उसको रस कहते है। इस आधार पर श्रृगार आदि को रस कहत है, क्योकि वे आस्वाद रूप है।

ऊपर की गयी व्युत्पत्तियो मे से प्रथम तथा चतुर्थ व्युत्पत्ति साहित्यिक रसो के लिए प्रयुक्त हो सकती है, क्योकि साहित्यिक रसो का आस्वादन किया जाता है तथा वे आस्वाद रूप होते है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए तथा काव्यो को रसात्मक प्रतिपादित करने के लिए वाल्मीकि रामायण का प्राय दृष्टान्त दिया जाता है। वहॉ वे देखते है कि एक व्याध ने काम से मोहित क्रौच पक्षी पर शर का प्रहार किया है। क्रौच पक्षी रूधिर से आप्लावित होकर भूमि पर गिर जाता है। उसकी प्रेयसी क्रौची उसके लिए विलाप करती है। इस घटना को देखकर वाल्मीकि शोक से आर्द्र होते है और उनका वह शोक ही श्लोक रूप मे परिणत हो जाता है।[१] आनन्दवर्धन ने इसी को काव्य की आत्मा बताया था।[२] स्वय महर्षि वाल्मीकि ने यह प्रतिपादित किया कि यह श्लोक उनके शोक विह्वल होने के कारण प्रस्फुटित हुआ था तथा यह अन्यथा नही हो सकता।[३] इस रस से ही लौकिक काव्य सृष्टि की सम्भावना हुई तथा वाल्मीकि का यह 'रामायण' काव्य सस्कृत साहित्य का आदि काव्य कहलाया। 'रामायण' के करूण रस प्रधान होने पर भी इसमे श्रृगार, हास्य, वीर, रौद्र, अद्भुत, भयानक और शान्त सभी रसो का सन्निवेश हुआ है। काव्य के इन रसो के स्वरूप को आचार्यो ने अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्श शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर, और लोकोत्तर चमत्कार प्राणरूप कहा।[४]

---

१ **मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।**
यत्क्रोञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।। – रामायण १/२/१५

२ **काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।**
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ।। – ध्वन्यालोक, १/५

३ **शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा।** रामायण,१/२/४०

४ **सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय·।**
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मोस्वादसहादर ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि ।
स्याकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस·।।– साहित्यदर्पण ३/२–३

(ग) रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन

रस के स्वरूप तथा अनुभूति का सबसे प्रथम विवेचन भरत ने किया था। भरत का यह विवेचन उनके नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे रस सूत्र के रूप मे प्रकट हुआ था। उत्तरवर्ती युग मे रस के सम्बन्ध मे जो भी विचार तथा आलोचना प्रस्तुत किये गये थे, वे भरत के रस–सूत्र को आधार बनाकर किये गये थे। भरतमुनि का रस–सूत्र अधोलिखित है–

''विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः।''

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उत्तरवर्ती आचार्यो ने रस की निष्पन्नता मे भरत के इसी रस सूत्र को आधार बनाया। इस सम्बन्ध मे आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के अभिमत को प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी है। मम्मट ने रस का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से बताया है–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च,

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।

विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः,

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।।[१]

लोक मे रति आदि भावो के जो कारण, कार्य तथा सहकारी है, जैसे नायक, नायिका आदि आलम्बन कारण है, चन्द्रोदय, वसन्त तथा उद्यान आदि उद्दीपन कारण है, कटाक्ष रोमाञ्च आदि कार्य है और चिन्ता हर्ष आदि सहकारी है। इनका जब काव्य या नाटक मे निबन्धन किया जाता है, तब वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव कहलाते है। इन विभावो, अनुभावो और व्यभिचारि भावो द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ स्थायि भाव ही रस कहलाता है।

(१ काव्यप्रकाश– ४/२७–२८)

विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण मे रस की निष्पन्नता इसी प्रकार से सम्पादित की है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।

रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।।[1]

विभाव, अनुभाव और सञ्चारि भावो द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ रति आदि स्थायी सहृदयो के लिए रसत्व को प्राप्त करता है।

मनुष्य अपने दैनिक जीवन मे जो देखता है, सुनता है और अनुभव करता है, उसका सस्कार मन पर स्थिर हो जाता है। इस सस्कार को वासना भी कहते है। यह वासना रूप सस्कार ही स्थायिभाव कहलाते है। काव्यशास्त्र मे स्थायिभावो का निरूपण वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। वे स्थायिभाव आधुनिक मनोविज्ञान मे वर्णित वेगो के समान है। सभी प्राणियो मे प्रेम की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। किसी मे किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का उत्कटता होती है। और किसी मे किसी अन्य प्रवृत्ति की। प्राचीन आचार्यो ने इन प्रवृत्तियो के वर्गीकरण का प्रयास किया था और इनकी सख्या निर्धारित की थी। सर्वप्रथम भरत ने आठ प्रवृत्तियॉ निर्धारित की होगी तथा उनके अनुसार स्थायिभावो की सख्या आठ सुनिश्चित की थी।

(घ) सहज प्रवृत्तियॉ तथा मन-संवेग

मनोविज्ञान के अध्ययन मे मानव की सहज प्रवृत्तियो तथा उनसे सम्बन्धित मन सवेगो का अध्ययन किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल ने निर्धारित किया था कि मानव की सहज प्रवृत्तियॉ १८ प्रकार की होती है। इनको उन्होने १४ प्रवृत्तियो मे सक्षिप्त किया था। ये १४ सहज प्रवृत्तियॉ तथा इनसे सम्बन्धित मन संवेग निम्नप्रकार है—

---

१ साहित्यदर्पण– ३/२१

	सहज प्रवृत्तियाँ	मनः सवेग
१	भय से पलायन (आत्मरक्षा के लिए)	भय
२	युद्ध करने की इच्छा	क्रोध
३	निवृत्ति या वैराग्य	घृणा
४	मातृभावना	वात्सल्य
५	आत्माभिमान	गर्व
६	आत्महीनता (उदासीनता)	दैन्य
७	काम की प्रवृत्ति	रति
८	आमोद–प्रमोद	हास
६	कुतूहल या जिज्ञासा	औत्सुक्य
१०	शरणागति या करूणभाव	शोक
११	भोजन खोजने की प्रवृत्ति	भूख
१२	सग्रह करने की प्रवृत्ति	अधिकार भावना
१३	सामाजिकता	एकाकीपन
१४	विधायकता या रचनात्मक प्रवृत्ति	सृजनोत्साह

ऊपर कही गयी १४ प्रवृत्तियो मे से अन्तिम चार का सम्बन्ध साहित्यिक रस से नही है। पहली दस प्रवृत्तियाँ साहित्यिक रसो से सम्बन्धित है तथा उनके मन सवेग रस दशा को प्राप्त हो सकते है। भारतीय परिभाषा मे इनको स्थायि भाव कहा जा सकता है। इन सहज प्रवृत्तियो और मन सवेगो का भारतीय साहित्यशास्त्र के स्थायिभावो तथा रसो से आश्चर्यजनक सम्बन्ध है—

	सहज प्रवृत्ति	मनः संवेग	स्थायिभाव	रस
१	भय से पलायन	भय	भय	भयानक
२	युद्ध करने की इच्छा	क्रोध	क्रोध	रौद्र
३	निवृत्ति या वैराग्य	घृणा	जुगुप्सा	वीभत्स
४	मातृभावना	वात्सल्य	वात्सलता	वात्सल्य
५	आत्माभिमान	गर्व	उत्साह	वीर
६	आत्महीनता	दैन्य	निर्वेद	शान्त
७	काम की प्रवृत्ति	रति	रति	श्रृगार
८	आमोद–प्रमोद	हास्य	हास	हास्य
६.	कुतूहल या जिज्ञासा	औत्सुक्य	विस्मय	अद्‌भुत
१०	शरणागति	दु ख	शोक	करूण

स्थायिभावो का मनोवृत्तियो के रूप मे भारतीय काव्यशास्त्र मे भी अध्ययन किया गया है। स्थायिभावो को स्थायिभाव इसलिए कहा जाता है क्योकि ये मनुष्यो के हृदयो मे चित्तवृत्तियो के रूप मे दीर्घकाल तक स्थिर रहते है। जिस भाव को न तो कोई प्रतिकूल भाव और न कोई अनुकूल भाव तिरोहित कर सकता है। उसको स्थायिभाव कहते हैं। यह रस के आस्वादन का अनुकरण कन्द है। दशरूपककार का कथन है कि जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावो से विच्छिन्न नही होता, अपितु अन्य भावो को आत्मसात कर लेता है वह स्थायिभाव है।[1]

रसो की प्रधानता एव अप्रधानता का आधार चित्तवृत्तियो को बनाया जाना चाहिए। अन्त करण मे अनादि काल से सञ्चित वासनाओ या सस्कारो को वर्गीकृत करके स्थायिभावो के नाम दिये गये है। अत रस के आस्वाद के समय चित्तवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओ के आधार पर रसो की प्रधानता या अप्रधानता निश्चित की जा सकती है। दशरूपककार के अनुसार ये चित्तवृत्तियॉ चार प्रकार की हो सकती है— विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। श्रृगार के अनुभव के समय विकास वीर रस के अनुभव के समय विस्तार, वीभत्स की अनुभूति के समय क्षोभ और रौद्र रस की अनुभूति क समय विक्षेप की अवस्था होती है। अत इन चार रसो को प्रधान समझना चाहिए। अन्य चार रस इन्हीं से उत्पन्न होते है। श्रृगार से हास्य, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती है।[2]

प्राचीन साहित्य मे रसो के विभिन्न वर्ण तथा देवता कहे गये है। सस्कृत साहित्य मे विभिन्न वस्तुओ तथा गुणो मे वर्णो की कल्पना की गयी

---

१ **विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य·।**
आत्मभाव नयत्याशु स स्थायी लवणाकर ।।– दशरूपकम् ४/३४

२ **स्वाद काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भव.।**
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै· स चतुर्विध ।।
श्रृगारवीरवीभत्सरौद्रेषु स चतुर्विध ।।
श्रृगारवीरवीभत्सरौद्रेषु मनस. क्रमात्।
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।।– दशरूपकम्, ४/४३–४५)

है तथा उसी के अनुसार रसो मे यह वर्णो की कल्पना है। देवताओ के गुणो के अनुसार उनसे सम्बन्धित रसो मे उन देवताओ के अधिष्ठातृत्व की कल्पना भी की गयी है। रसो के वर्णो तथा देवताओ की कल्पना सबसे पहले भरतमुनि ने की थी। भरत ने चूँकि आठ ही रसो का विवेचन किया था, इसलिए उन्होने आठ ही रसो के वर्णो तथा देवताओ का वर्णन किया।[1] विश्वनाथ ने शान्त और वत्सल रसो के वर्ण देवता भी बताये।[2] इनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

	रस	वर्ण	देवता
१	श्रृगार	श्याम	विष्णु
२	हास्य	श्वेत	प्रथम
३	करूण	कपोत	यम
४	रौद्र	रक्त	रूद्र
५	वीर	गौर	इन्द्र
६	भयानक	कृष्ण	काल
७	वीभत्स	नील	महाकाल
८	अद्‌भुत	पीत	ब्रह्मा
६	शान्त	कुन्देन्दुशुभ्र	श्रीनारायण
१०	वत्सल	पद्‌मगर्भ सदृश	लोकमाताये

१ **श्यामो भवेत्तु श्रृगार सितो हास्य प्रकीर्तित ।**
कपोत करूणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेय· कृष्णश्चापि भयानक.।
नीलवर्णस्तु वीभत्स· पीतश्चैवाद्‌भुत स्मृत·।।
श्रृगारो विष्णुदैवत्यो हास्य. प्रथमदैवत·।
रौद्रो रूद्राधिदेवश्च करूणो यमदेवत ।।
वीभत्सस्य महाकाल. कालदेवो भयानक ।
वीरो महेन्द्रदेव· स्याद‌द्‌भुतो ब्रह्मदैवत ।।- नाट्‌यशास्त्र, ६/४२–४५

२ **कुन्देन्दुसुन्दरच्छाय श्रीनारायणदैवत ।** –साहित्यदर्पण, ३/२४६

(ड) काव्यमार्ग एवं रस में अन्तर

काव्यमार्ग एव रस मे अन्तर को बताने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्यमार्ग अथवा रीति काव्य का वह ऊपरी हिस्सा है जिसे अग–सस्थान या 'शरीरावयव कहा जा सकता है जबकि रस काव्य का वह केन्द्रीय तत्व है जो काव्य मे समाहित रहता है और आत्मर्स्थानीय होता है। अत काव्यमार्ग एव रस मे अन्तर को स्पष्ट करने के पहले यह आवश्यक है कि काव्यमार्ग और रस दोनो की समीक्षा कर ली जाय।

१. रसों के काव्य आत्मत्व की समीक्षा

आचार्यों ने जिस रस को काव्य की आत्मा कहा है, उसके स्वरूप का तथा अनुभूति की प्रक्रिया का सक्षेप मे निदर्शन करने के बाद रस मे आत्मत्व को प्रतिपादित करने के लिए रस के इस स्वरूप का विवेचन आवश्यक है। रस के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विवेचन काव्य मे उसके आत्मत्व को प्रतिपादित करता है।

भारतीय आस्तिक दर्शनो की पृष्ठभूमि मे पञ्चभूतो से निर्मित शरीर मे आत्मा को प्रधान माना गया है। यह आत्मा विशुद्ध, अजर, अमर, नित्य, आनन्दमय, चिन्मय, विज्ञानमय और ब्रह्मरूप है। इस आत्मा को उपनिषदो मे रसरूप भी कहा गया है, जिसको प्राप्त करके प्राणी आनन्दमय हो जाता है। काव्य मे रस का स्वरूप भी इसी रूप मे प्रतिपादित किया है। शब्दार्थ शरीर रूप काव्य मे रस ही एक मात्र प्रधान है, अन्य गुण, अलकार आदि इसी को अलकृत करते है।

भरतमुनि तथा उनके परवर्ती आचार्यो ने भी रस को ही काव्य का प्रधान तत्व प्रतिपादित किया। काव्य मे भावो का निबन्धन किया जाता है। 'अग्निपुराणकार' का कथन है कि न तो भाव से हीन रस होता है और न रस से रहित भाव होते है। भाव ही रसो को भावित करते है, अर्थात् अनुभव

का विषय बनाते है।[1] अग्निपुराण का सिद्धान्त है कि वचन चातुर्य का चमत्कार होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है।[2]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि 'काव्यास्यात्मा ध्वनि' कहकर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था, तथापि वे रसध्वनि को ही सबसे प्रधान मानते थे। जैसा कि तृतीय अध्याय मे हम उल्लेख कर चुके है कि ध्वनिकार के अनुसार ध्वनि तीन प्रकार की होती है– वस्तु ध्वनि, अलकार ध्वनि और रस ध्वनि। इनमे रस ध्वनि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता) को उन्होने ध्वनि की भी आत्मा प्रतिपादित किया था।[3] आनन्दवर्धन ने रस को अभिव्यग्य ही मानकर उसका ध्वनि के रूप मे प्रतिपादन किया था।

अभिनवगुप्त के गुरू भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' मे रस का विवेचन किया था, जिसके कतिपय अशो को अभिनव गुप्त ने उद्घृत किया। भट्टतौत ने प्रतिपादित किया था कि रस के आनन्दस्वरूप होने से वह आत्मरूप है और रस का समुदाय ही रस है। काव्य मे भी जब रस का नाट्यायमान प्रयोग होता है, तभी वह आस्वादित होता है। अर्थात् श्रव्य काव्य मे भी वर्णित विषय के प्रत्यक्षवत् अवभासित होने पर ही सहृदय पाठक रस का आस्वादन करते है।[4]

प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के 'काव्यालकारसारसग्रह' पर लघुवृत्ति नाम की टीका लिखी थी, इस बात का उल्लेख हम तृतीय अध्याय मे कर चुके है। यद्यपि प्रतीहारेन्दुराज अलकारवादी आचार्य थे, तथापि उन्होने

---

१ **न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित ।**
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यते च रसा इति।। – अग्निपुराण, ३१६/१२

२ **वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।** –अग्निपुराण, ३१६/१३

३ **रसभावतदाभास भावशान्त्यादिरक्रम.।**
ध्वनेरात्माङ्गि भावेन भासमानो व्यवस्थित ।।–ध्वन्यालोक, २/३

४ प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्। न नाट्य एव च रसा काव्येऽपि नाट्यायमान एव रस । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसवेदनोदये रसोदये इत्युपाध्याया । तदाहु काव्यकौतुके प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भव । – नाट्यशास्त्र–अभिनव भारती टीका, प्रथम भाग, पृ २६१

काव्य मे रस को आत्मा के रूप मे माना था। रस को काव्यात्मा रूप मे प्रतिपादित करने के विषय मे उनका मत था कि रस से युक्त काव्य ही जीवित रह सकता है, अत रस ही काव्य की आत्मा है।[1]

अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की अभिनवभारती टीका मे और ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे रस का विशद विवेचन किया है। उन्होने प्राचीन आचार्यो के अभिमतो को भी उद्घृत किया है। उनके अनुसार काव्य मे रस सदा व्यङ्ग्य होता है। वह काव्य के ध्वनि रूप व्यापार से ही अनुभूत होता है, अत इसको रस ध्वनि कहते है। यह रसध्वनि ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।[2] यद्यपि ध्वनि तीन प्रकार की होती है— वस्तु, अलकार और रस, तथापि वस्तु और अलकार ध्वनियो का पर्यवसान रस ध्वनि मे ही होता है। वस्तु ध्वनि और अलकार ध्वनि चूँकि वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होती है इसीलिए सामान्यत ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। वस्तुत काव्य की आत्मा रसध्वनि है।[3]

अभिनवगुप्त के पश्चात भी आचार्यो ने काव्य मे रस की प्रधानता प्रतिपादित की थी। भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'श्रृगारप्रकाश' मे रस का विवेचन किया है। उन्होने श्रृगार रस को ही अभिमान रूप मानकर उसके द्वारा काव्य की कमनीयता प्रतिपादित की है।[4] यदि कवि श्रृगारी है तो काव्य मे जगत रसमय होता है, यदि वह श्रृगारी नही है तो काव्य नीरस हो जाता है।[5]

---

१ **रसाद्यधिष्ठित काव्य जीवद्रूपतया यत।**
कथ्यते तद्रसादीना काव्यात्मत्व व्यवस्थितम्।। – काव्यालकारसारसग्रह–लघुवृत्ति, पृ ८३

२ **स च काव्यव्यापारैक गोचरो रसध्वनिरिति।**
स च रसध्वनेरेवेति स एव मुख्यतया आत्मा। – ध्वन्यालोक–लोचनटीका, पृ १८

३ तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनि काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्। –ध्वन्यालोक– लोचन टीका, पृ ३१

४ **रसोऽभिमानोऽहकार· श्रृगार इति गीयते।**
सोऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्य कमनीयत्वमश्नुते।। –सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/१

५ **श्रृगारी चेत कवि काव्ये जातं रसमय जगत्।**
स एव चेदश्रृगारी नीरस सर्वमेव तत्।। – सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/३

मम्मटाचार्य ने व्यङ्ग्य अर्थ को वस्तु अलकार और रस, इस प्रकार तीन प्रकार का मानते हुए भी रस के प्रधानत्व को स्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादित किया है। यह रस रूप अर्थ ही मम्मट के अनुसार काव्य मे अगी होता है। रूय्यक के अनुसार रस आदि ही काव्य के प्राण है। वे अलकार रूप नही हो सकते। अलकार तो उपकारक होते है, परन्तु रस आदि प्रधान होने से उपस्कार्य है। अत रस आदि प्रतीयमान होते हुए वाक्यार्थ होते है और वे ही काव्य का जीवन है। वाक्यार्थ होते है और वे ही काव्य का जीवन है। वाक्यार्थ वेत्ता सहृदय रस के इसी रूप को स्वीकार करते है।[1]

'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिमभट्ट भी रसको ही काव्य की आत्मा मानते है।[2]

उनका ध्वनिवादियो से मतभेद केवल इसी बात मे है कि वे रस को व्यञ्जन का नही अपितु अनुमिति का विषय मानते हैं राजशेखर ने यद्यपि रस का विवेचन नही किया, तथापि उन्होने उसी को काव्य की आत्मा माना।[3]

विश्वनाथ ने रस का विस्तृत विवेचन करके उसको काव्य मे सबसे प्रधान प्रतिपादित किया है। विश्वनाथ का काव्य–लक्षण है– 'वाक्य रसात्मक काव्यम्।[4] इससे रस का काव्य की आत्मा होना स्वय सिद्ध होता है। 'अलकारकौस्तुभ' मे कविकर्णपूर ने शब्दार्थ शरीर काव्य मे ध्वनि को प्राण तथा रस को आत्मा माना।[5] भूदेव ने वस्तु अलकार और रस इस प्रकार के त्रिविध अर्थ को काव्य की आत्मा मानकर भी इनमे रस को ही काव्य की

---

१ **रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्या।**
अलकाराणाभुपकारकत्वाद् रसादीनाञ्च प्राधान्येनोपकार्यत्वात्।
तस्मात् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूत काव्यजीवितमिति।
एष एव च पक्षो वाक्यार्थविदा सहृदयानामावर्तक। –अलकारसर्वस्व, पृ १०

२ **काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमति।** – व्यक्तिविवेक, पृ २२

३ रस आत्मा। –काव्यमीमासा, पृ १४

४ साहित्यदर्पण, १/३

५ **शरीर शब्दार्थो ध्वनि· रस व आत्मा किल रस।** –अलकारकौस्तुभ, १/१

वास्तविक आत्मा प्रतिपादित किया। इसका हेतु यह है कि काव्य की प्रवृत्ति रस के लिए ही होती है। रस ध्वनि के परम रमणीय होने के कारण रस ही काव्य की आत्मा है।

केशवमिश्र ने काव्य मे रस को ही आत्मस्थानीय माना है। उनका कथन है कि नीरस काव्य मे रसिक जन आनन्द को उसी प्रकार प्राप्त नही करते, जिस प्रकार उत्तम पका होने पर भी भोजन नमक के बिना स्वादिष्ट नही होता।[1] पडितराज जगन्नाथ ने रस के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण को स्वीकार किया था। उन्होने उपनिषदो के 'रसो वै स' वचन को उद्धृत करके रत्यादि विषयक आवरण रहित आत्मचैतन्य को रस बतलाया। उनके अनुसार रस तथा चैतन्य मे एकता है। अत रत्यादि विशिष्ट आवरण रहित चैतन्य ही रस है और वही काव्य की आत्मा है।

इस प्रकार रस की आनन्दात्मकता तथा प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र की रचना के प्रारम्भ से आधुनिक समय तक प्राय सभी आचार्यो ने उसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। न केवल काव्यशास्त्र के आचार्य ही रस के प्रधानत्व को सिद्ध करते है अपितु कालिदास, भवभूति आदि महान् कवियो ने भी रस मे ही सहृदयो की तन्मयता को स्वीकार किया था। आनन्दवर्धन का कथन है कि रस काव्य का सर्वोपरि तत्व है, अत प्रबन्ध काव्य की रचना करते हुए कवि को रस परतत्र होना चाहिए।[2]

२. काव्यमार्गो के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

साहित्य के क्षेत्र मे मार्ग का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन शैली से होता है। निस्सन्देह इस आधार पर असख्य मार्गों अथवा रीतियो की कल्पना की जा सकती है, तथापि काव्यशास्त्रियो ने मार्गो अथवा रीतियो की सख्या निर्धारित करने के प्रयास बराबर किये है।

---

१ **साधुपके बिना स्वाद्यं भोजने निर्लवण यथा।**
तथैव नीरस काव्य स्यान्नो रसिकतुष्टये।। –अलकारशेखर–२

२ **कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतत्रेण भवितव्यम्।** –ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति से

भारतीय काव्यशास्त्र मे रीति अथवा मार्ग के विषय मे आचार्य भरत ने यद्यपि कुछ नही कहा, फिर भी उन्होने चार प्रकार की प्रवृत्तियो का विवेचन अवश्य किया है। प्रवृत्ति की परिभाषा भरत ने इस प्रकार दी है— 'पृथिव्या नानादेशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्ति । निस्सन्देह भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियो मे पूर्ण जीवन चर्या सिमट आती है जबकि मार्ग का आशय भाषा के प्रयोग की रीति अर्थात् पद्धति से होता है। इस प्रकार भरत ने प्रवृत्तियो को केन्द्रीय तत्व के रूप मे विवेचित किया।

भरत के पश्चात भामह ने मार्गो या रीतियो के विवेचन मे उनकी प्रादेशिकता की स्थिति और उनकी रूढपरकता को समाप्त कर दिया। इसके बाद दण्डी ने स्पष्ट किया कि वाणी के अनेक मार्ग है, जिनमे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। इनके अनुसार वाणी को व्यक्त करने के दो ही मार्ग है— वैदर्भ और गौड। इस प्रकार दण्डी के अनुसार मार्ग भाषा की अभिव्यक्ति की विधि, पद्धति अथवा गति है, जिसके माध्यम से कोई कवि अपनी बात को अपनी कविता मे अभिव्यक्त करता है।

वामन ने रीति को काव्य का आत्मा विधायक तत्व माना और उसकी सर्वतत्र सत्ता का आख्यान किया, अत उनके समक्ष इसके नियत्रण अथवा नियमन का प्रश्न ही नही था। वामन ने विशेष प्रकार के पदो की रचना को रीति कहा तथा उसे काव्य की आत्मा माना। वामन के अनुसार रीति की विशेषताएँ महत्वपूर्ण है— पहली वह विशिष्ट पद रचना होती है और दूसरी यह है कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है।

वामन के पश्चात आनन्दवर्धन ने रीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया और पूर्वाचार्यो द्वारा प्रतिपादित रीतियो का खण्डन करके अपना अलग एक समालोचना मार्ग प्रतिपादित किया, जिसे ध्वनिमार्ग के नाम से प्रतिस्थापित किया तथा उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार किया।[१] ध्वनिकार के इस मन्तव्य को तृतीय अध्याय मे हम स्पष्ट भी कर चुके है।

---

१ **काव्यस्यात्मा ध्वनि ।** –ध्वन्यालोक, १/२

आनन्दवर्धन के अनन्तर राजशेखर ने १०वीं शताब्दी मे काव्यपुरूष के रूपक द्वारा प्रवृत्तियो, वृत्तियो तथा रीतियो आदि का सविस्तार वर्णन किया तथा रीति अथवा मार्ग को वचनविन्यास क्रम मात्र माना। उन्होने रीतियो को प्रदेशाधारित बताकर उसका वाह्यआवरण के रूप मे वर्णन किया, जिसे हम भाषा का शरीर के आधार पर मार्ग–विभाजन कह सकते है। इसके बाद कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर काव्य मार्गो का विवेचन किया तथा कवि के स्वभाव–विशेष के आधार पर भाव और कला पक्ष की महत्ता का प्रतिपादन किया। यद्यपि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया फिर भी उनके काव्यमार्ग विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' मे मार्गत्रय ही केन्द्रीय तत्व बन गया है।

इस प्रकार काव्यमार्गो की कलात्मकता तथा भाषा वैविध्य के आधार पर लगभग प्रत्येक काव्यशास्त्री ने उनके विषय मे अपने विचार व्यक्त किये है किन्तु उन्हें काव्य की आत्मा के रूप मे केवल वामन और आनन्दवर्धन ने ही प्रतिष्ठित किया है। मार्गो के बारे मे उर्पुक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि काव्य के शरीर की भूमिका मे होते हुए भी काव्यमार्गो की केन्द्रीय भूमिका होती है, क्योकि वैविध्य और कलात्मकता मार्गो या रीतियो के माध्यम से ही आती है।

३. अन्तर

रसो एव मार्गों की आत्मत्व–समीक्षा से स्पष्ट होता है कि काव्य मे रसो की स्थिति अन्तवर्ती होती है जबकि मार्गों की बाह्य होती है। रस काव्य के आत्मस्थानीय भावो पर आश्रित होते है जबकि मार्ग काव्य के शरीरावयव–सस्थान मात्र होते है। काव्य मार्गो एव रसो मे अन्तर या वैभिन्य को सक्षेप मे निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

	काव्य मार्ग		रस
१	काव्यमार्ग काव्य को निबद्ध करने की पद्धति, रीति, पन्था, वीथी अथवा एक ढग मात्र होता है।	१	रस काव्य मे निहित एक भाव होता है।
२	काव्यमार्ग कवि के स्वभाव, रचना पद्धति, काव्य—चिन्तन और प्रदेशो के आधार पर परिवर्तित होकर भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है।	२	रस काव्य के विषय के आधार पर भिन्नता को ग्रहण करता है। प्रेम, दैन्य युद्ध आदि भिन्न—भिन्न विषयो के आधार पर रस विभिन्न प्रकार के होते है।
३	काव्यमार्ग पदसघटना, वर्ण—गुम्फन, तथा गुणो पर आश्रित होता है।	३	रस मूलत अर्थाश्रित होता है जिसमे भाव प्रधान होता है।
४	काव्यमार्ग शरीर के रूप मे प्रत्यक्ष रूप से काव्य मे दिखाई पडता है।	४	रस काव्य का आत्मकेन्द्रित तत्व होता है, जिसको केवल सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है।
५	काव्य मार्ग को काव्य का शरीर कहा जा सकता है।	५	रस काव्य का शरीर न होकर उसकी आत्मा होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्य मार्ग, रस से बिल्कुल भिन्न तत्व होता है। जहॉ मार्ग एक पद्धति अथवा रचना शैली होती है वही रस काव्य मे निहित एक भाव होता है। यद्यपि दोनो का एक महत्वपूर्ण गुण सौन्दर्य होता है, तथापि दोनो ही एक दूसरे से नितान्त भिन्न होते है, क्योकि एक (मार्ग) काव्य का शरीर है तो दूसरा (रस) काव्य की आत्मा। अत शरीर और आत्मा की तरह एक दूसरे के प्रति अपेक्षित होते हुए भी दोनो मे पर्याप्त भिन्नता है।

(च) काव्यमार्ग एवं रस में साम्य (सम्बन्ध)

मार्ग अथवा रीति और रस में साम्य के विषय में जब हम गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि काव्य मार्ग पदों की एक विशिष्ट रचना पद्धति होती है, जिसे काव्य की शरीर–निर्माण–विधि कहा जा सकता है जबकि रस काव्य की अन्तःवर्ती स्थिति होती है जो भावनात्मक होती है और मुख्य रूप से अर्थाश्रित होती है, तथापि मार्ग और रस दोनों में एक महत्वपूर्ण तत्व एक समान होता है, वह है– 'सौन्दर्य'।

काव्य मार्गों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि मार्ग अथवा रीति चाहे प्रदेश–आधारित हो, रचना शैली, काव्य चिन्तन अथवा कवि स्वभाव पर आधारित हो, सभी में सौन्दर्य एक आवश्यक तत्व होता है। वैदर्भ मार्ग अथवा वैदर्भी रीति में छोटे–छोटे सरल, सुपाठ्य एवं सुग्राह्य पद मन को आकर्षित करते हैं, जब कि पाञ्चाली या लाटी की दीर्घ पदावली अपेक्षाकृत कम आकर्षित करती है। अतः भाषा के शरीर संस्थान का सौन्दर्यबोध मार्ग अथवा रीति पर आश्रित होता है।

रस सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन की एक महत्वपूर्ण देन है। इसी के समकक्ष पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में कलादर्शन या सौन्दर्य मीमांसा (सौन्दर्यशास्त्र) का स्थान है और दोनों की स्थापनाओं और निष्कर्षों में आश्चर्यजनक साम्य है। कला दर्शन तथा रस दर्शन दोनों का ही लक्ष्य आनन्दानुभूति प्रदान करता है और दोनों ही काव्य–जन्य आनन्द को कल्पनाजन्य आनन्द स्वीकार करते हैं। दोनों का ही विचार है कि सामान्य जीवन के भाव कलाकृति में आनन्द दायक बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि रसानुभूति, सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्यबोध के अत्यन्त निकट है।

रीति सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास क्रम में रीति के मूल तत्व पर अनेकधा विचार व्यक्त किये गये हैं। इसके मूल तत्वों में, गुण, समास, अनुप्रास, वर्ण व्यापार, वर्ण–संघटना या वर्ण गुम्फ हैं। दण्डी के अनुसार गुण रीति के मूल तत्व हैं तथा शब्द एवं अर्थ सौन्दर्य के प्रतीक भी। वामन

ने रीति को पद–रचना मानकर गुणो को ही उसका मूलाधार स्वीकार किया है। उन्होने रीति को काव्य का सर्वोच्च तत्व सिद्ध कर शब्द गुम्फ को उसका (रीति काव्य) बहिरग तत्व गुण, रस, अलकार तथा दोषाभाव को अतरग तत्व माना है। स्पष्ट है कि वामन ने रस को उतना महत्व नही दिया जितने का वह अधिकारी था। विशिष्ट पद रचना को काव्य का सर्वोपरि तत्व मानकर रीति–सिद्धान्त मे रस का स्थान कान्ति नामक अर्थगुण के अन्तर्गत निर्धारित किया गया। फलत उसकी न केवल पूर्ण उपेक्षा हुई, अपितु रस का अवमूल्यन भी किया गया। फलत रीति सम्प्रदाय मे रस का अत्यन्त गौण स्थान निर्धारित किया गया। कालान्तर मे ध्वनि एव रसवादी आचार्यो ने रसध्वनि को काव्य का आत्मस्थानीय पद देकर रीति को अग–सस्थान या शरीरावयव के रूप मे प्रतिष्ठित किया और रस के कारण ही रीति का महत्व सिद्ध किया गया।

वामन रस को केवल रीति का अगमात्र स्वीकार करते है, अत रस तो हुआ अग और रीति हुई अगी। इस प्रकार जब हम इसके विपरीत देखते है तो हम यह समझते है कि रसवादी रस को आत्मा और रीति को अग सस्थान ही मानते है। वस्तुत रीति का जो अस्तित्व है वह रस द्वारा है। इसके लिए हम एक उदाहरण दे सकते है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति की देह की सुन्दरता उस व्यक्ति की वाह्य सुन्दरता मात्र होने पर भी उसकी आत्मा का उत्कर्ष करती है उसी प्रकार रीति भी रस को उत्कर्षित करने मे पूर्णतया समर्थ होती है। रीति सम्प्रदाय देह को ही प्रधानता देता है और आत्मा को पोषक तत्व स्वीकार करता है। रस सम्प्रदाय आत्मा को प्रधान मानते हुए देह को केवल बाह्य तत्व के रूप मे मान्यता देता है। रस को रीति द्वारा उपकरण मात्र बताया गया है। रीति को रस अग सस्थान रूप मे मान्यता देता है।

सघटना के नियमन के सम्बन्ध मे रस से व्यतिरिक्त और भी नियामक तत्व होते है इनमे वक्ता वाच्य और विषय ये तीन मुख्य रूप से तत्व है। भिन्न–भिन्न वक्ताओ मे कवि रसभाव हीन वक्ता होगा तो रचना

स्वच्छन्द होगी, परन्तु अन्यत्र जब कवि या कवि से निबद्ध वक्ता रसभाव परिपूर्ण होता है और प्रधान रस के आश्रय से ध्वन्यात्मभूत होता है, वहॉ सघटनाए क्रमश असमासा अथवा मध्यसमासा पायी जाती है। असमासा सघटना प्राय करूण, विप्रलम्भ, श्रृगार मे नियोजित होती है। करूण, विप्रलम्भ मे दीर्घ समास का प्रयोग वर्जित होता है। कारण यह है कि दोनो रस अतिकोमल होते है। मूलत यही कारण शब्द और अर्थ की प्रतीति मे शिथिलता उत्पन्न होती है और रसास्वादन मे भी बाधक होती है। इसीलिए दीर्घ समास का करूण और विप्रलम्भ मे प्रयोग नही करना चाहिए।

रूद्रट ने समास को मूल तत्व सिद्ध कर लघु मध्यम तथा दीर्घ समासो के आधार पर रीति के भेदो का निरूपण किया— पाञ्चाली लाटीया और गौडीया। वैदर्भी को उन्होने असमासा कहा। आनन्दवर्धन ने रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन मानकर गुण को उसका अतरग तत्व एव समास को वाह्य मूलाधार कहा है। परवर्ती तीन आचार्यो—राजशेखर, भोज एव अग्निपुराणकार ने इस प्रश्न पर विचार किया। राजशेखर ने (काव्यमीमासा मे) समास के अतिरिक्त अनुप्रास को रीति का मूल तत्व बताया है। वैदर्भी मे समासाभाव तथा स्थानानुप्रास विद्यमान रहता है और पाञ्चाली मे समास और अनुप्रास अल्पमात्रा मे रहते है। गौडीया मे अनुप्रास और समास का प्राचुर्य रहता है। उन्होने रीति के नये आधारो की भी उद्‌भावना की। उनके अनुसार वैदर्भी की योगवृत्ति, पाञ्चाली का उपचार एव गौडीया की योगवृत्ति परम्परा तीन रीतियो या मार्गों के तीन आधार तत्व है। भोज ने राजशेखर का अनुकरण करते हुए गुण एव समास को रीति का मूलाधार माना तथा योगवृत्ति प्रभृति आधारो का और भी अधिक विस्तार किया। अग्निपुराण मे रीति के तीन मूलाधार बताये गये—समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग एव अलकार) तथा मार्दव की मात्रा। उत्तर—ध्वनि काल मे मम्मट तथा विश्वनाथ ने इस प्रसग पर नवीन ढग से प्रकाश डाला। मम्मट वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार मानकर वर्ण सघटन या वर्ण गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध स्थापित करते है। वे गुण व्यञ्जक वर्ण—सघटन को रीति का

मूलाधार मानते है। विश्वनाथ मे वर्ण सयोजना एव शब्द गुफ को रीति का मूल तत्व स्वीकार कर समास का भी समावेश किया है। अतत रीति काव्य के अग सस्थान के रूप मे प्रतिष्ठित हुई और उसका मुख्य व्यापार हुआ रस का उपकार करना या रसाभिव्यक्ति का साधन बनना। गुण उसका अतरग तत्व सिद्ध हुआ और वर्ण सयोजन, पद रचना (शब्द गुफ) एव समास उसके बहिरग तत्व के रूप मे मान्य हुए। विश्वनाथ प्रभृति रसवादी आचार्यो ने श्रृगार, वीर एव शान्त रस के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियो का स्वरूप–निर्धारण किया।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि रस काव्य की आत्मा एव रीति उसकी अभिव्यक्ति का साधन मानी गयी। रीति–सिद्धान्त देहात्मवादी काव्य–सिद्धान्त है, जिसने प्राण की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्व दिया है। वह शरीर को ही काव्य का परम तत्व मानता है, पर रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानकर प्राण तत्व का प्राधान्य स्वीकार करते है। अत रीति काव्य के बहिरग तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित है तो रस अतरग स्वरूप का निर्धारक। रीति रस की अभिव्यक्ति का साधन है, काव्य का मूल तत्व नही।

पञ्चमोन्मेष

काव्यमार्ग एवं गुण

काव्य मनुष्य के भावो और विचारो का समन्वय है, इसे भारतीय और पाश्चात्य विद्वान मानते है। अत काव्य के लिए व्यक्तिगत अनुभूति, विचार, कल्पना एव शैली का बडा ही महत्व है। शैली का सम्बन्ध व्यक्ति–अभिरूचि के साथ होने से उसमे गुण एव दोष का आ जाना स्वाभाविक है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र मे प्राचीन काल से ही गुण–दोष का विस्तृत विवेचन मिलता है। वस्तुत गुणो से युक्त काव्य उत्कृष्ट एव गुणो से रहित और दोषो से युक्त काव्यहेय और निन्दनीय माना जाता है। काव्य की आत्मा रस है और गुण ही उसका मुख्य धर्म होता है। रस तथा गुण दोनो की ही काव्यमार्ग को अपेक्षा होती है, अत गुण का मार्ग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करने के पहले 'गुण' पर एक विहगम दृष्टि डाल लेना अपेक्षित है।

क गुण सिद्धान्त का प्रवर्तन

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास मे गुण एक ऐसा महत्वपूर्ण विषय रहा है, जिस पर प्रारम्भ से ही विद्वानो ने गूढ चिन्तन करके उसे परिभाषित करते हुए गुण लक्षण एव उसके विरोधात्मक तत्वो को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया। इस प्रकार गुणो की चर्चा काव्यशास्त्र मे प्राचीन काल से होती रही है, परन्तु प्राचीन आचार्य इसे पूर्ण रूप से स्पष्ट करने मे बहुत अधिक सक्षम नहीं हुए। कदाचिद् गुण रीति पर आश्रित स्वीकार किये गये ता कही रीति गुणाश्रित मानी गयी। कही पर उन्हे शब्दार्थ का धर्म माना गया ता कही रस का, कही पर गुण एव अलकार को पृथक–पृथक माना गया। इसी प्रकार उनके भेदो–प्रभेदो तथा सख्या पर विचार विमर्श निरन्तर होता रहा है, किन्तु प्राचीन काल मे गुणो का स्वरूप न तो उतना विकसित था न ही उतना वैज्ञानिक जितना कि बाद मे काव्यशास्त्रियो ने अपनी प्रतिभा से उसे बना दिया। इस गुण के प्रकार एव लक्षण समयानुसार परिवर्तित होते रहे।

प्रारम्भ मे गुणो का प्रयोग प्रशसा के लिए होता था। शौर्यादि गुणो का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नही होता अपितु इनका सम्बन्ध केवल आत्मा के साथ ही होता है। जिस प्रकार व्यक्ति–विशेष मे उसके तत्व शौर्य अर्थात् शारीरिक कान्ति और प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन होते है। ठीक उसी प्रकार काव्य मे, जो उसकी अर्थप्राणता को अभिव्यक्त करता है उसे ही गुणो की सज्ञा दे दी गयी। गुण काव्य प्रशसा की निरन्तर अभिव्यक्ति है। सगीत तथा काव्य का आनन्द प्राप्त करने वाले सहृदय सामाजिक के लिए माधुर्य गुण को ही प्राथमिकता प्राप्त हुई है। इस प्रकार गुण शब्द का प्रयोग किसी भी पदार्थ की अतरग सूक्ष्म विशेषता के लिए किया जाता है।

गुण उन तत्वो को कहते है जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते है। इस प्रकार गुण काव्योत्कर्ष वर्द्धक गुण है। जो प्रधानभूत (रस) अगी रस के आश्रित रहते है उन्हे गुण कहते है। काव्य के ऐसे अचल एव नियत धर्म जो कि प्रधान रस के उत्कर्ष हेतु हो, गुण कहलाते है। जैसे कि मनुष्य के शरीर मे प्रधान आत्मा के शूरता आदि गुण होते है।

गुण किसके धर्म माने जाएँ ? यह प्रश्न भी विवेचनीय रहा है। कतिपय आचार्यो ने गुण को शब्दार्थ के धर्म के रूप मे मान्यता दी। गुणो को क्रमश काव्य के रस, चित्तवृत्ति एव शब्दार्थ से सम्बन्धित माना गया है या यो कि गुणो की व्याप्ति क्रमश शब्दार्थ से लेकर काव्य तक बतायी गयी। आगे चलकर एक और प्रश्न उठता है कि गुणो को काव्य का धर्म क्यो माना जाय ? तो गुणो को काव्य का धर्म मानने के अनेक कारण है। एक तो यह कि वे केवल काव्य मे ही पाये जाते है। दूसरा यह कि उनके अभाव मे काव्य नही बन सकता और तीसरा यह कि उनकी विद्यमानता से ही कोई रचना काव्य कही जा सकती है।

गुण काव्य की शोभा बढाने वाले अतरग धर्म होते है। अलकार शब्द तथा अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और इसलिए वह काव्य की शोभा

बढाने वाला बाहरी धर्म होता है। इतना ही नही गुणो की स्थिति काव्य मे सर्वदा रहती है। ऐसा कोई काव्य नही होता, जिसमे गुण कही न कही विद्यमान न हो। गुण रहित काव्य की कल्पना नही की जा सकती है। अत स्पष्ट है कि गुण काव्य का मुख्य धर्म होता है। डा नगेन्द्र के शब्दो मे "अत गुण उन तत्वो को कहते है जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते है। अथवा गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वो को कहते है जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म होते है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि गुण काव्य के अनिवार्य धर्म होते है। दोषाभाव उस अनिवार्यता का मुख्य कारण होता है तथा काव्य की शोभा उसका मुख्य तत्व होता है। अत काव्य के शोभाध ाायक तत्व के रूप मे काव्यशास्त्रियो ने 'गुण सिद्धान्त का प्रवर्तन किया।

(ख) गुणों का स्वरूप

सस्कृत काव्यशास्त्र की मान्य परम्परा मे प्रकाण्ड पण्डित समुदाय के द्वारा रस के उत्कर्ष हेतु स्थायिभाव को 'गुण' के रूप मे मान्यता मिली। गुण प्रकार एव लक्षण समयानुसार परिवर्तित होते रहे है। 'गुण' शब्द विशेष तौर पर किसी तत्व की आन्तरिक विशेषता सिद्ध करते है। गुण के विषय मे हम इतना अवश्य कह सकते है कि पृथक रूप से इसकी सत्ता स्वीकार न करके किसी तत्व की सम्पूर्ण विशेषता के रूप मे स्वीकार करनी चाहिए। गुण का कोशार्थ हमे उत्तमता, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभावह धर्म के रूप मे मिलता है। साहित्याचार्यो मे गुण के स्वरूप को लेकर आरम्भ से ही विवाद रहा है। गुण स्वरूप विवेचन के लिए हम विभिन्न काव्यशास्त्रियो के गुण के विषय मे उनके मत को स्पष्ट करते है।

भरतमुनि

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य काव्य तत्वो के समान गुण स्वरूप का प्रारम्भ भी हम भरत के नाट्य शास्त्र से मान सकते है। भरत ने गुण का

कोई भावात्मक लक्षण नही दिया है। उन्होने दोषो के अभावात्मक तत्व को अर्थात् दोष विपर्यय को ही गुण कहा तथा उसे ही गुण सज्ञा दी है।[1]

भरत ने काव्य के दस दोषो को अभिव्यक्त किया इसी कारण ही दोष विपर्ययत्वेन दस गुणो की भी अभिव्यक्ति की होगी।[2] दूसरी ओर हम कह सकते है कि भरत द्वारा प्रोक्त सभी गुण भावात्मक अथवा अभावात्मक दोनो प्रकार के रूपो मे प्राप्त हुए है जैसे– कि एक ओर समता गुण अभावात्मक कोटि का है, परन्तु अन्यत्र उदारता, सौकुमार्य, औजस् आदि भावात्मक की कोटि मे रखे गये है।

गुण किसके धर्म है ? इस प्रश्न को लेकर भरत ने किसी प्रकार का चिन्तन नही किया। उनके गुण विषयक दृष्टिकोण को देखते हुए तो यही कहा जा सकता है कि वे गुणो और काव्य मे सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करते है। काव्य के अन्तर्गत तो, पद, अर्थ एव वाक्य सभी का सन्निवेश होता है। अत स्पष्टत भरत 'गुण' पद अर्थ एव वाक्य को ही मानते है।[3]

अत भरत के मत मे गुण शोभावर्द्धक अवश्य हो सकते है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब वे रस के अनुकूल प्रयुक्त हो।

भामह

भामहाचार्य ने गुण की कोई निश्चित परिभाषा नही दी है। गुण उनकी दृष्टि मे क्या था ? उसका स्वरूप कैसा था ? यह तो कहना कठिन है, किन्तु काव्य गुण विषयक भामह की उक्ति मौलिकता पूर्ण है। उन्होने गुणो को सघटना के धर्म रूप मे स्वीकार किया है। भामह के विषय मे पूर्ववर्ती आचार्यो से जो एक विशेष बात देखने को मिलती है, वह यह कि उन्होने तीन गुणो (माधुर्य, ओजस्, प्रसाद) के साथ–साथ भाविक को भी

---

१ **एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिता।**
गुणा विपर्ययादेषा माधुर्यौदार्यलक्षणा ।। –नाट्यशास्त्र, १६/९५

२ **एते दोषास्तु विधेया सूरिभि. नाटकाश्रया ।**
एत एव विपर्यस्ता. गुणा काव्येषु कीर्त्तिता ।। –नाट्यशास्त्र १७/९५

३ **काव्यस्येति पदस्य वाक्यस्य तदुभयगतस्य अर्थस्य वेत्यर्थ** –अभिनवभारती, पृ ३३६

गुण सज्ञा से अभिहित किया।[1] भाविक को भामह ने प्रबन्ध गुण कहा है। जिस स्थान पर अतीत और अनागत अर्थ प्रत्यक्ष रूप से होते है, उसे ही भामह भाविक गुण की सज्ञा से अभिहित करते है।[2] यद्यपि उनके बाद के अलकारिको के द्वारा तो भाविक को गुणो की श्रेणी मे समाहित किया गया है। भामह ने भी भाविक को गुणरूप मानते हुए उसे 'अलकारप्रकरण मे ही रखने की चेष्टा की है। गुण का भामह ने उतनी महत्वपूर्ण दृष्टि से आकलन नही किया जितनी कि वे वक्रोक्ति का करते दिखाई देते है। इस प्रसग मे भामह ने कहा है–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्य· कोऽलङ्कारोऽनयाविना।।[3]

सम्पूर्ण प्रकार के अर्थो मे विभा का आधान करने वाली वक्रोक्ति ही है। इसके बिना तो अलकार भी अपूर्ण है और उसकी काव्यकोटि मे गणना भी व्यर्थ है। कवि की प्रतिभा तो तभी सिद्ध होती है जब वह कान्ति मे आभा का विधान कर सके। इसका ही नाम अलकृति है जो प्रकृति रमणीय या सहसा सुन्दर वस्तु को सुवर्णालकार भॉति अपनी शोभा से और अधिक सुन्दर बना देती है।[4] भामह के विषय मे डा ए बी कीथ का कहना है कि दण्डी ने जो गुणो की सख्या दस बताई है उसकी इस मान्यता का विरोध भामह ने तीन गुण मानकर किया।[5] भामह ने सहज रूप मे भरत द्वारा उल्लिखित दस गुणो को नहीं अपनाया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भामह द्वारा माने गये तीन गुण भरत द्वारा बताये गये दस गुणो मे से ही हैं।

---

१ **भावकत्वमिति प्राहु· प्रबन्धविषय गुणम्।** –काव्यालकार, ३/५३

२ **प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थान्भूत भाविन ।** –काव्यालकार, ३/५३

३ काव्यालङ्कार (भामह) २/८५

४ **इय चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।**
अस्या सुवर्णालकार पुष्णाति नितरां श्रियम्।। –काव्यालकार, ६/३०

५ डा ए बी कीथ, –हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ ३८२

दण्डी

गुण सिद्धान्त की व्यवस्थित विवेचना हमे दण्डी के 'काव्यादर्श' मे मिलती है। दण्डी प्रकारान्तर से गुण को शब्द एव अर्थ के धर्म रूप मे मानते है। उन्होने गुणो को रस धर्म न कहकर शब्दार्थ धर्म कहा है। दण्डी ने गुण के विषय मे कहा है–

दोषाः विपत्तये यत्र गुणा· सम्पत्त ये यथा।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि दोष काव्य की विपत्ति के लिए है तो गुण काव्य की सम्पत्ति के लिए है, जिसको दूसरे प्रकार से हम इस प्रकार कह सकते है कि यदि दोष काव्य के विघातक तत्व है तो गुण को काव्य विधायक तत्व ही समझना चाहिए। दण्डी ने गुणो को उपमालकारादि के समान ही माना है। गुण भी मार्ग विभाजक अलकार हुए। गुण को वे काव्य शोभाविधायक धर्म के रूप मे मानते है।[2] दण्डी ने अपेक्षाकृत रस के गुणो को ही काव्य के सर्वाधिक महनीय तत्व के रूप मे मान्यता दी।

दण्डी द्वारा की गयी गुण विवेचना काव्य को निश्चय ही सजीव एव सार्थक बनाने मे समर्थ हुई।[3] दण्डी का कथन है कि गुण ही उत्तम काव्य का प्राण है। दण्डी के गुण पर विचार करने से इस तथ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है कि दण्डी के गुण शब्दार्थ आश्रित है। उनके मतानुसार तो गुण काव्य–शोभा का सृजन करने वाला तत्व ही होता है।

वामन

काव्य मे गुणो की भावात्मक परिभाषा हम वामन के ग्रन्थ से ही प्राप्त करते है। वामन के कथनानुसार विशिष्ट पदरचना ही रीति कही जा सकती है और उस पदरचना की विशेषता का मार्ग गुण होता है।

---

१ काव्यादर्श ३/१२४

२ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकरान् प्रचक्षते, तल्लक्षणयोगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणापि) अलकार। –काव्यादर्श

३ दण्डी एव काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, पृ १५४–१६७

काव्य की शोभा हेतु वामन गुणो की अपरिहार्यता पर अधिक बल देते है– पूर्वे गुणा नित्या । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते[1]

पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियो से थोडा हटकर वामन ने स्थिति मे परिवर्तन करते हुए लिखा–काव्याशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा । तदतिश–यहेतवस्त्वलकारा ।।[2]

काव्यशोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण ही होते है, इसी कारण वे गुण को काव्य के शोभाविधायक धर्म कहते है तथा अलकार को काव्य की शोभा का अतिशय विधायक धर्म। गुण को वामन शब्दार्थ धर्म कहते है–

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा· काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा·।[3]

इस कथन से तो उनके गुणो को भावात्मक तत्व मानने वाली बात भी स्पष्ट हो जाती है।

गुण स्वरूप की तुलना वामन युवती के रूप से करते है, उदाहरण के लिए कहते है कि जिस प्रकार से किसी भी युवती का रूप यौवन इत्यादि गुणो तथा अलकारो से युक्त होने पर शोभित होता है, उसी प्रकार काव्य भी युवती के रूप की ही भाति होता है। अन्यथा काव्य के निर्गुण होने पर वह उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे कि यौवन विहीन अगना और तब अलकारो का भी होना व्यर्थ हो जाता है।[4] श्लेष को वामन ने मसृणत्व माना है। समता को मार्गभेद तथा समाधि को वे आरोहावरोह कहते है। उन्होने समाधि को तीव्रता के नाम से भी सकेतित किया है। प्राचीन आचार्यो मे वामन ही वह पहले आचार्य है जिन्होने २० गुणो की कल्पना की जिनमे दस शब्दगुण और दस अर्थगुण है।

---

१ काव्यालङ्कारसूत्राणि, पृ ३०

२ काव्यालङ्कारसूत्राणि ३/१/१–२

३ काव्यालकारसूत्राणि ३/१/१ की वृत्ति

४ **युवतेरिव रूपमग । काव्य स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव।**
विहितप्रणय निरन्तराभि सदलकारविकल्पकल्पनाभि ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ् गनाया.।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्व नियतमलकरणानि सश्रयन्ते।।–काव्यालकारसूत्राणि पृ ३०

वामन द्वारा सस्थापित गुणो का स्वरूप उनके पश्चाद्‌वर्ती आलकारिको को मान्य नही हुआ। वामन का रीति सिद्धान्त जिसे उनके द्वारा आत्म–पद पर प्रतिष्ठित किया गया था, गुणो की सीमा का उल्लघन नही कर सका और गुणो तक ही सीमित रहा। वामन ने शब्दार्थ मात्र को ही काव्य नही कहा अपितु काव्य स्वरूप विषयक दोष–रहित और गुणो और अलकारो से युक्त कथन किया है। इसी कारण उनके उत्तरवर्ती आचार्य भोज उनसे सबसे अधिक प्रभावित दिखते है। गुण और अलकारो के तारतम्य के आधार पर महत्व को प्रकाशित करने के कारण ही वामन की सस्कृत साहित्य मे महत्वपूर्ण भूमिका है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे वामन के दृष्टिकोण को काव्यशरीर तथा उसके सौन्दर्याधायक तत्व इन दोनो प्रकार के विषय की दृष्टि से हम प्रथम एव अतिम तथा परिपूर्ण चिन्तन कह सकते है।

उद्‌भट

उद्‌भट ने गुणो एव अलकारो मे समानता मानते हुए इनमे भेद का खण्डन भी किया है। उद्‌भट ने 'भामह विवरण' मे कहा है कि लौकिक शौर्य इत्यादि शरीर मे समवाय सम्बन्ध से रहते है, किन्तु काव्य विषयक माधुर्यादि गुणो मे एव अनुप्रास इत्यादि अलकारो को पृथक रूप मे मानना उचित नही है।[1] उद्‌भट क पूर्ववर्ती काव्य शास्त्रियो के द्वारा काव्यशोभा धायक तत्व के रूप मे गुणो की समवाय वृत्ति और अलकारो की सयोग वृत्ति इस पक्ष मे आना गया है। उद्‌भट के गुण और अलकार मे भेद न मानने वाले मत को आचार्य मम्मट ने सहज स्वीकार करने मे आपत्ति उठायी है। मम्मट ने उद्‌भट की आलोचना करने मे कही कोई कमी नही छोडी है। उन्होने उदाहरण के साथ–साथ दोनो का अन्तर भी बताया है। मम्मट ने काव्य के प्राणभूत प्रधान 'रस' के साथ इन दोनो के सम्बन्ध को भी उचित स्थान दिया है। उद्‌भट भी गुणो को सघटना धर्म स्वीकार करते दिखायी पडते है–

१ समवायवृत्तया शौर्यादय सयोगवृत्तया तु हारादय इत्यस्तु गुणालकाराणा भेद, ओज प्रभृतीनामनुप्रासादीना चोभयेषामपि समवायवृत्तया स्थितिरिति गड्‌डलिकाप्रवाहेण येषा भेद।
–काव्यप्रकाश, पृ ४७०

सघटना धर्मागुणा इति भट्टोद्भटादय ।

उनके मत का समर्थन अलकार सर्वस्वकार तथा रत्नापणकार भी करते है।

रूद्रट

रूद्रट ने 'गुण' शब्द का प्रयोग अति साधारण अर्थो मे किया है। वे गुणो को शब्दार्थ का धर्म ही कहते है। वैसे रूद्रट ने काव्य गुण के स्वरूप पर कोई विशेष चिन्तन नही किया है। वे काव्य लक्षण के सम्बन्ध मे किसी विचित्र उक्ति का प्रतिपादन नहीं करते है। काव्य का लक्षण "ननु शब्दार्थौ काव्यम् [1] इस प्रकार किया है। कहन का तात्पर्य यह है कि इन्होने शब्द और अर्थ के मिले जुले रूप को ही काव्य लक्षण कह दिया। दोष रहित काव्य और अलकार युक्त काव्य ही इनकी सम्मति मे काव्य समझा गया है। काव्य के लिए रस तो अत्यावश्यक है।[2] रूद्रट ने चारूता पर अधिक जोर दिया है। पदो की चारूता मे सभी गुण सम्मिलित होते है।[3]

नमिसाधु

काव्यालङ्कार के रचयिता रूद्रट के टीकाकार नमिसाधु के अनुसार तो रीति ही गुण है। गुण काव्य—सौन्दर्य है। नमिसाधु गुण शब्द का अति व्यापक अर्थ के रूप मे प्रयोग करते है। अलकार और रीति नमिसाधु के कथनानुसार गुण ही है। रीति शब्द पर आश्रित गुण ही है।[4] अर्थालकार को वे अर्थपूर्ण मानते है। रस तो सौन्दर्य की भॉति सहज गुण है। नमिसाधु सम्पूर्ण काव्य—सौन्दर्य को गुण नाम से व्यवह्रत करते है। अन्यूनाधिक

---

१ काव्यालकार, २/१

२ तस्मात्तत्कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। —काव्यालकार, १२/२

३ रचयेत्तमेव शब्द रचनाया य करोति चारूत्वम्।
सत्यमपि सकलयथोदित पदगुणसाम्येऽभिधानेषु।।
रचना चारुत्वे खलु शब्दगुणा सन्निवेशचारुत्वम्। —वही, २/६/१०

४ एताश्च रीतयो नालकार कि तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति। काव्यालकार टीका, २ पृ १०

वाचकत्व गुण क्या है ? इसके विषय मे नमिसाधु बताते है कि विवक्षित अर्थ के सकेत रूप जो शब्द अपेक्षित हो, केवल उतने ही शब्दो का वाक्यगत प्रयोग अन्यूनाधिक वाचकत्व गुण होता है।

आनन्दवर्धन

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने गुण के विषय मे एक मार्ग को प्रदर्शित किया है। पूर्ववर्ती आचार्यो ने गुणो को काव्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य दिया फिर भी वे गुणो को अलकारो से भिन्न नही समझते थे। आनन्दवर्धन ने पूवर्ववर्ती आचार्यो के मतो का खण्डन करते हुए कहा कि अलकार तो काव्य–सौन्दर्य के बाह्य उपादान होते है। गुणो को उन्होने काव्य के अन्तरग उपादान के रूप मे व्यक्त किया तथा गुण को नित्य और अलकार को अनित्य मानते है। गुण प्रधानभूत रस का आश्रय लेकर काव्य मे उपस्थित रहते है और अलकार अगभूत शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर रहते है। रस के जो स्थिर धर्म होते है, वे आनन्दवर्धन के द्वारा गुण कहे गये है तथा शब्दार्थ के अस्थिर धर्म अलकार कहे गये है। जिस प्रकार शरीर मे शौर्यादि गुण आत्मा का आश्रय लेकर रहते है, उसी प्रकार काव्य मे रसादि अगी का आश्रय लेकर गुणो की उपस्थिति रहती है। शरीर की शोभा की वृद्धि करने वाले जिस प्रकार अलकार अगो के आश्रय मे रहते है उसी प्रकार अलकार काव्य के अगभूत शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर रहते है। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा पूर्ववर्ती सम्पूर्ण आचार्यो के मतो का खण्डन कर दिया गया तथा अलकारो से भिन्न गुणो की अलग सत्ता स्थापित की गयी।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने गुण के स्वरूप का निदर्शन करते हुए काव्य मे रस के स्थान को निर्धारित किया था। उनका मन्तव्य था कि काव्य मे रस अगी रूप मे रहते है तथा गुण उन रसो मे नियत रूप से रहते हुए उनका उपकार करते है। काव्य के अगीभूत रस मे गुण उसी प्रकार से रहते है, जिस प्रकार शरीर के अगी आत्मा मे शौर्य आदि गुण रहते है–

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन-।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ।।[1]

मम्मट ने गुणो को रस के अगी रूप मे तथा काव्य के उत्कर्षाधायक तत्व के रूप मे स्थापित करने का प्रयास किया था। उनके अनुसार गुण रस के उत्कर्षाधायक अर्थात् चित्तद्रुति आदि कार्य विशेष के उत्पादक है। यह विशेषण गुण—स्वरूप को शब्दार्थ तथा दोष आदि से पृथक् कर देता है।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने गुणो को परिभाषित करते हुए लिखा है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा: शौर्यादयो यथा। गुणा·

माधुर्यगोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।।[2]

अर्थात् देह मे आत्मा के समान काव्य मे अगित्व अर्थात् प्रधानता को प्राप्त जो रस उसके धर्म (माधुर्यादिक) उसी प्रकार गुण कहाते है जैसे आत्मा के शौर्य आदि को गुण कहा जाता है। जैसे देह मे अङ्गित्व को प्राप्त आत्मा की उत्कृष्टता के निमित्त होने से शौर्यादि को गुण कहते है। उसी प्रकार काव्य मे प्रधानभूत रस के धर्म अर्थात् उसके स्वरूप विशेष माधुर्यादि भी अपने समर्थक (व्यञ्जक) पद समुदाय मे काव्यत्वव्यवहार (व्यपदेश) के उपयोगी अनुगुण्य को सिद्ध करते है— तात्पर्य यह है कि जो समुदाय गुणो का व्यञ्जक होता है वह काव्य कहलाता है, क्योकि गुण रस के ही धर्म होते है।

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यो के गुण—विषयक विचारो को देखते हुए हम कह सकते है कि गुण मुख्यत रस के धर्म है और गौण रूप से शब्द और अर्थ के धर्म हैं। रस अगरूप है और गुण उसके अगीरूप है।

---

१ काव्यप्रकाश, ८/६६

२ साहित्य दर्पण— ८/१

(ग) गुणों का मनोवैज्ञानिक आधार

गुणो के स्वरूप निर्धारण से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से गुण के सामान्य लक्षण तो स्पष्ट हो जाते है फिर भी उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण नही होता। निस्सन्देह गुणो के मनोवैज्ञानिक आधार के विश्लेषण से गुण का स्वरूप समझने मे निश्चित सहायता मिलेगी।

सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने शब्दो मे रस के आश्रय से गुणो का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया। उनके मत से श्रृगार, रौद्रादि रसो से सहृदय का चित्त आह्लादित हो जाता है। और इस आह्लाद का एक मात्र कारण उसमे माधुर्यादि गुणो की अवस्थिति होती है। यहॉ एक प्रश्न उठता है कि माधुर्यादि गुणो और चित्त के आह्लादित अथवा दीप्त होने के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार ने कुछ नही कहा है। अभिनवगुप्त ने इस शका का समाधान करते हुए कहा कि गुण वस्तुत चित्त की वृत्ति का ही दूसरा नाम है। माधुर्यादि गुण चित्त की अवस्थाओ के ही परिचायक है। माधुर्य गुण चित्त की द्रवित अवस्था का, ओजगुण चित्त की दीप्तावस्था का और प्रसाद गुण चित्त की व्यापकता का परिचायक होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार रस रूपी कारण से गुण रूपी कार्य सम्पन्न होता है।

आचार्य मम्मट ने गुणो को चित्त की अवस्थाओ का कारण माना है। गुणो और चित्त–द्रुति के मध्य कार्य–कारण सम्बन्ध होता है और वे दोनो पृथक् सत्ताए रखते है। मम्मट के अनुसार चित्त की विभिन्न अवस्थाओ के मूल मे यही माधुर्य आदि गुण होते है। मम्मट के पश्चात आचार्य विश्वनाथ ने पुन अभिनवगुप्त के मत की प्रतिष्ठा करते हुए चित्त–द्रुति को गुण से अभिन्न माना। तथापि विश्वनाथ की मान्यता अभिनवगुप्त के चिन्तन से पूर्णत मेल नही खाती। विश्वनाथ के शब्दो मे "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद–स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नही है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने किसी अश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय है। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नही है।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त की इस मान्यता को अमान्य सिद्ध कर दिया कि गुण, रस के धर्म और कार्य दोनो है। पडितराज की यह स्पष्ट धारणा थी कि रस और गुण परस्पर अभिन्न नही हो सकते। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए पडितराज अग्नि का उदाहरण प्रस्तुत करते है जिसका धर्म तो उष्णता होती है और कार्य जलाना होता है। जलाए बिना भी अग्नि मे उष्णता बनी रह सकती है। अत गुण को रस का धर्म और कार्य दोनो नही माना जा सकता। पडितराज ने गुण और चित्तवृत्ति मे प्रयोजक–प्रयोज्य सम्बन्ध माना है। इस प्रकार पडितराज के विवेचन मे अन्तर्विरोध स्पष्ट झलकता है। एक ओर तो वे गुण को रस और शब्द अर्थ दोनो का धर्म मानते है और दूसरी ओर गुण और चित्तवृत्ति के मध्य प्रयोजक–प्रयोज्य सम्बन्ध मानकर गुण को चित्तवृत्ति के रूप मे भी मानते है।

इस प्रकार प्रत्येक युग के विद्वानो ने अपने–अपने ढग से गुण का स्वरूप निर्धारित किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गुण और रस दोनो ही विशिष्ट प्रकार की मन स्थितियॉ है। रस की मन स्थिति अपने आप मे आनन्दमय होने के साथ–साथ अखण्ड होती है और उसमे मन की सभी अन्तर्वृत्तियॉ अन्वित हो जाती है। रस की स्थिति आनन्दमय होती है और वह आनन्द अपने आप मे पूर्ण और परम उपलब्धि होता है। उस स्थिति मे पहुॅचकर मन को कोई भी कामना नही रह जाती। इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि विशिष्ट भावो और विशिष्ट शब्दो मे चित्त को प्रभावित करने की क्षमता होती है। श्रृगार के सुकोमल भावो और मधुर शब्द योजना मे बॉधे गये करूणा आदि भावो से निश्चय ही मान वमन तरल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार रौद्र आदि–भावो और टवर्ग वर्णो के प्रयोग से हमारे भीतर की चित्त वृत्ति दीप्त हो उठती है। तथापि चित्त की ये विभिन्न अवस्थाऍ पूर्णत आह्लादक नही कही जा सकती है, क्योकि आह्लाद की स्थिति तो रस दशा होती है और चित्त की ये अवस्थाऍ रस–दशा से पूर्व की अवस्थाऍ है। इसी प्रकार गुण भी विशिष्ट प्रकार की मन स्थिति होती है जिसमे गुणानुसार चित्त की अवस्थाऍ देखी जा सकती है।

(घ) गुणों की संख्या

सस्कृत साहित्यशास्त्र का अवलोकन करने पर एक समस्या हमारे समक्ष गुण सख्या को लेकर खडी हो जाती है। गुण सख्या एव सज्ञागत विषयक चिन्तन तो विभिन्न आचार्यो द्वारा प्रारम्भ से ही किए गये दिखाई पडते है, फिर भी हम यह कह सकते है कि इस विषय को लेकर तो विभिन्न विद्वानो के मतो मे विभिन्नता दिखाई पडती है। आचार्य भरत ने तो गुण सख्या दस स्वीकार की थी। उन्ही का अनुकरण करते हुए उनके पश्चाद् दण्डी एव वामन के द्वारा भी दस गुण मान्य हुए और इन दोनो के मध्यवर्ती आचार्य भामह ने माधुर्य इत्यादि त्रिगुण सत्ता ही स्वीकार की थी।

भामह के पश्चात वामन ने सख्या मे जो एक विशेष परिवर्तन किया, वह यह कि उन्होने न केवल दस गुण ही माने, अपितु उन गुणो के शब्दगत एव अर्थगत विषयक भेद भी कर डाले। और इस कारण तो गुणो की सख्या उनके मतानुसार २० हो गयी। इस प्रकार यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि वामन ने जो शब्दगुण और अर्थ गुण माने, वह भी भरत से ही प्रेरणा ली होगी, क्योकि भरत के गुण लक्षण भी कही–कही शब्दगुण अर्थगुण को सजह न स्वीकार कर मात्र सकेतित करते है। अब आगे चलकर यह निश्चित हो जाता है कि कतिपय गुण शब्दगत है कतिपय अर्थगत और किञ्चित शब्दार्थोभयगत।

ध्वनिवादियो के गुण सख्यक दृष्टिकोण का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि वे भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों यथा भामह प्रभृति (आचार्य) के आधार पर गुण सख्या केवल तीन ही स्वीकार करते है।[१] ध्वनिवादी आचार्य भामह के ही अनुयायी ज्ञात होते है।[२] यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्यो यथा–आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यो ने दस गुण का खण्डन करते हुए त्रिगुण को ही मान्यता दी है, क्योकि वे तो गुणो को

---

१ **माधुर्यौज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।** – काव्य प्रकाश, ८/८६

२ **एव माधुर्यौज प्रसादा एव त्रयोगुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण।**

–ध्वन्यालोक लोचन, पृ २१३

रसोत्पन्न चित्तवृत्ति स्वीकार करते है और रस चर्वणा के समय केवल तीन चित्तवृत्तियॉ ही पायी जाती हैं। वह तीन चित्तवृत्तियॉ है– द्रुति, दीप्ति, विकास। चित्त की इन्ही तीन अवस्थाओ की कल्पना को ही काव्यशास्त्र मे मान्यता प्राप्त हुई है। प्राय देखने मे आता है कि इन्ही त्रिगुण चित्तवृत्तियो का माधुर्य, ओज, प्रसाद मे अन्तर्भाव हो जाता है। इनके अनुसार चित्त की द्रुति मे माधुर्य गुण, दीप्ति मे ओज गुण तथा व्याप्ति अथवा विकास मे प्रसाद गुण पाया जाता है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने वैसे तो स्पष्ट रूप से गुण के विषय मे अधिक नही कहा, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे गुण को चित्तवृत्ति रूप स्वीकार अवश्य ही करते है। आगे चलकर मम्मट ने ध्वनि सिद्धान्त के त्रिगुणवाद को एक ठोस आधार देकर उसे मान्यता दिलाई। कही पर तो उनको दोष रूप अथवा त्याग रूप बताकर उन सभी का निराकरण किया गया दिखायी देता है।[1] विश्वनाथ गुण को द्रुति, दीप्ति तथा विकास स्वरूप ही मानते है।

गुण सख्या के विषय मे सर्वाधिक सख्या मानने वाले है भोज। उनका मत तो प्राचीन सभी आचार्यो से पूर्णरूपेण भिन्न है। उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा निर्धारित गुणो मे और अधिक वृद्धि करके उनकी सख्या २४ कर दी और इस प्रकार से भोज प्राचीन आचार्यों के दस गुणो मे १४ और नवीन गुणो को सम्मिलित करते हुए दिखाई देते है। फिर भोज न उन २४ गुणो का त्रिगुण अथवा त्रिवर्ग कर अर्थात् उनको तीन वर्गो मे बॉट कर उनके बाह्य आभ्यन्तर और वैशेषिक भेद कर उनकी सख्या २४ से ७२ मान ली। भोज द्वारा मान्य १४ नवीन शब्द और अर्थगुण इस प्रकार है। वाह्य तथा आभ्यन्तर गुण १ उदात्तता, २ और्जीत्य, ३ प्रेयस, ४ सुशब्दता, ५ सौक्ष्म्य, ६ गाम्भीर्य, ७ विस्तार, ८ सक्षेप, ६ सम्मितत्व, १० भाविक, ११ गति, १२ रीति, १३ उक्ति, १४ प्रौढि।

---

१ **केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात ।**
अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचित् न ततो दश।।

—काव्यप्रकाश, ८/६६

भोज के बाद वक्रोक्तिकार कुन्तक ने प्राचीन आचार्यो की परम्परा से अलग होकर गुण विवेचन किया। कुन्तक ने छ गुणो को उल्लिखित किया है। उनके द्वारा स्थापित छ गुण मे दो के स्वरूप सामान्य और चार के सुकुमार विचित्र और मध्यम मार्ग मे आकर उन चारो का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। उनके गुण विषयक दृष्टिकोण से तो यही प्रतीत होता है कि यद्यपि वे छ प्रकार के गुण मानते है पर फिर भी वह स्वरूपतया चौदह प्रकार के है।

डा राघवन का कहना है कि दण्डी के दस गुणो और भामह के त्रिगुण मे जो सख्या विषयक अन्तर हुआ है। वह उनसे पूर्वकालिक गुण सम्बन्धी विचारधारा के फलस्वरूप ही है।

इस प्रकार हम गुणो की सख्या मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तन देखते है। इन परिवर्तनो को देखते हुए तो इन्हे एक निश्चित रूप देना कठिन हो जाता है फिर भी हम स्वतत्र रूप से यह कहने मे सक्षम है कि पूर्ववर्ती ओर परवर्ती आचार्यो मे तीन गुणो को मानने वाले आचार्यो के मतो को ही मान्यता प्राप्त हुई है।

(ड) गुणों की समीक्षा

काव्यो की समालोचना के प्रारम्भिक काल से ही काव्यगत गुणो की सख्या व स्वरूप के विषय मे विचार किया जाता रहा है। साहित्य के क्षेत्र मे गुणो के स्वरूप को लेकर विभिन्न प्रकार की मान्यताए सामने आयी, जिनका विश्लेषण अपेक्षित है। भारतीय काव्यशास्त्र मे गुणो का विधिवत विश्लेषण वामन और आनन्दवर्धन ने ही किया है किन्तु अन्य काव्यशास्त्रियो ने भी किसी न किसी रूप मे गुण के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये है।

सर्वप्रथम भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है जिन्होने काव्य–दोषो का वर्णन करते हुए गुणो का भी उल्लेख किया है। भरतमुनि के अनुसार काव्य मे जो कार्य काव्यदोष करते है, गुण उनका विपरीत कार्य करते है अर्थात् जहॉ काव्यदोष काव्य का अहित करते है वही गुणो से काव्य की शोभा की

अभिवृद्धि होती है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे दस गुणो का कथन किया था।[1] उन्होने माधुर्य आर औदार्य गुणो को कहकर ओज के स्वरूप को भी बताया था।[2] अन्य गुणो के स्वरूप के विषय मे उन्होने विशेष नही कहा। भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह ने गुण शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वह प्रयोग केवल भाविक के प्रसग म ही किया गया है। यद्यपि भामह ने माधुर्य ओज और प्रसाद गुणो का उल्लेख तो किया है किन्तु उन्हे गुण भी नही माना है। वस्तु स्थिति यह है कि उस समय के काव्यशास्त्रियो की प्रवृत्ति प्राय विवेचना परक थी अत परिभाषाएँ प्रस्तुत करने की ओर किसी का भी ध्यान नही जाता था। स्वभावत भामह ने गुण की कोई परिभाषा प्रस्तुत नही की। उनके मतानुसार माधुर्य ओज और प्रसाद यही तीन गुण होते है और इन तीनो गुणो का आधार समास होता है।

दण्डी ने गुणो के स्वरूप का विवेचन अधिक विस्तार से किया। उन्होने काव्य के दो मार्ग बताये– वैदर्भ और गौड। उनके अनुसार गुण इन्ही मार्गो के प्राणभूत है। दण्डी के अनुसार श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है तथा इनके विपरीत गुण गौड मार्ग के प्राण है।[3]

अग्निपुराण मे गुणो की विवेचना कुछ भिन्न प्रकार से है। इस ग्रन्थ मे गुणो को तीन वर्गो मे विभक्त किया गया है– शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण। श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्दगुण है। माधुर्य, सविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व ये छ अर्थगुण है। प्रसाद, सौभाग्य, यथासख्य, उदारता, पाक और राग ये छ उभयगुण है। गुण के स्वरूप के विषय मे अग्निपुराण मे कहा गया है कि जो तत्व काव्य मे महती छाया को उत्पन्न करते है, वे गुण है–

---

१ **श्लेष प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज पदसौकुमार्यम्।**
अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते। –नाट्यशास्त्र, १७/९६

२ **समासवद्भिर्विविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।**
सा तु स्वरैरूदारैश्च तदोज परिकीर्त्यते।। –नाट्यशास्त्र, १६/१९

३ **श्लेष प्रसाद. समता माधुर्य सुकुमारता।**
अर्थव्यक्तिरूदारत्वओज कान्ति समाधय ।।
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता।
एषा विपर्यय प्रायो दृश्यते काव्यवर्त्मनि।। –काव्यादर्श, १/४१/४२

'य काव्ये महती छायामनुग्रहणाति असौ गुण ।'

गुणो की सख्या तथा स्वरूप के प्रतिपादन के सम्बन्ध मे कुन्तक का मत भी कुछ भिन्न सा रहा । कुन्तक ने कहा कि काव्य के तीन मार्ग है– सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इन मार्गो के दो प्रकार के गुण होते है– विशिष्ट तथा साधारण। विशिष्ट गुण चार है– माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य एव साधारण गुण दो है– औचित्य और सौभाग्य।

गुणो का विवेचन करने वाले आचार्य दो प्रकार के है– प्राचीन और नवीन। प्राचीन आचार्यो मे अलकारवादी और रीतिवादियो की गणना की जा सकती है और नवीन आचार्यो मे ध्वनिवादियो की। प्राचीन आचार्यो ने गुणो की सख्या और स्वरूप के विषय मे जो मत व्यक्त किया उसमे एकता और निश्चितता नहीं है। भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यो ने गुणो की सख्या और स्वरूप के सम्बन्ध मे एक निश्चित अभिमत को प्रकट नही किया। नवीन ध्वनिवादी आचार्यो– आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने गुणो की सख्या तथा स्वरूप का अधिक निश्चित निर्धारण किया। इनके अनुसार गुणो की सख्या तीन है– माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनका विवेचन अधिक वैज्ञानिक और युक्तिसगत है।

प्राचीन आचार्यो मे वामन ने जो गुणो का विवेचन किया था, वह अधिक सुसम्बद्ध और तर्कसगत है। उन्होने रीतियो के साथ गुणो के साक्षात् सम्बन्ध का प्रतिपादन किया। ध्वनिवादियो से पूर्व गुणो के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया। ध्वनिवादियो से पूर्व गुणो के सम्बन्ध मे वामन के मत का प्रचार ही सबसे अधिक हुआ। परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे गुणो का निरूपण करते हुए प्राचीन आचार्यो मे वामन के मत को ही अधिक महत्व दिया है।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य मे रस अगी है और गुण उनके अगरूप रहते है। अलकार काव्य के शरीर एव अर्थ का आश्रय लेते है।[1] उस अगी अर्थात् रस का आलम्बन करने वाले धर्म को आनन्दवर्धन ने गुण

कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन गुण की स्वतत्र सत्ता नही मानते। आनन्दवर्धन के पश्चात् मम्मट ने अपने विचार व्यक्त किये। मम्मट के अनुसार जिस प्रकार शौर्यादि मानव आत्मा के गुण होते है, उसी प्रकार माधुर्य ओज और प्रसाद आदि तीनो गुण भी काव्यरस के धर्म होते है। रस अगी होता है और गुण उसके अगरूप होते है। ये गुण रसोत्कर्ष के हेतु होते है और काव्य मे इनकी स्थिति अचल होती है। मम्मट के अनुसार रसविहीन काव्य मे गुणो का भी अभाव होगा।

मम्मट के पश्चात विश्वनाथ ने भी गुण का स्वरूप विवेचन किया, जिसमे उन्होने मम्मट का ही अनुकरण किया है। इस दृष्टि से मम्मट और विश्वनाथ का चिन्तन प्रकारान्तर से प्राय एक सा ही है।

पडितराज जगन्नाथ ने मम्मट और विश्वनाथ से थोडा हटकर गुण के रसधर्मत्व पर आपत्ति प्रकट की है। उनके विचार से गुण काव्य–रस का धर्म नहीं हो सकता और इस सम्बन्ध मे उनका सबसे प्रबल तर्क यह है कि जब रस को काव्य की आत्मा माना गया है तो रस आत्मा की ही भाति गुण और धर्म विहीन होगा। आत्मा का कोई भी धर्म अथवा गुण नही होता, अत रस का भी न तो कोई धर्म होता है और न तो कोई गुण। इस प्रकार पडित राज के अनुसार गुण रस का नही, शब्दार्थ का धर्म होता है।

इस प्रकार गुण के सम्बन्ध मे प्राचीन एव नवीन आचार्यो के मतो के विवेचन से स्पष्ट होता है कि गुण उन तत्त्वो को कहते है जो विशेष रूप स प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते है अथवा गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वो को कहते है जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म है। सक्षेप मे यदि हम कहे तो गुण काव्य के शोभाकारक धर्म है– इस सम्बन्ध मे सभी विद्वानो मे पूर्ण मतैक्य है।

---

१ **तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।**
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्।। –ध्वन्यालोक, २/६

(च) काव्यमार्ग एवं गुण में अन्तर

चतुर्थोन्मेष मे की गयी काव्य मार्ग के आत्मतत्व की समीक्षा तथा इस उन्मेष मे की गयी गुणो की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य मार्ग विशुद्ध रूप मे काव्य का शरीर होता है, जिसमे पद–रचना, शब्द–गुम्फ आदि की प्रधानता होती है जबकि गुण काव्य की आत्मा के अधिक निकट होता है और रस की तरह ही वह एक मन स्थिति का निर्धारक होता है, जिसमे चित्त की विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ देखी जाती है। इस तरह काव्यमार्ग एव गुण मे अन्तर या वैभिन्य स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। इसे हम निम्नलिखित तालिका के द्वारा सक्षेप मे स्पष्ट करते है–

मार्ग	गुण
१ काव्य मार्ग, पद–सघटना, शब्द–गुम्फ एव समास पर आधृत होता है।	१ गुण वर्ण–सयोजना का आश्रय तो लेते है किन्तु उसमे चित्तवृत्ति की स्थिति प्रधान होती है।
२ काव्यमार्ग काव्य रचना की पद्धति रीति अथवा विधि होती है।	२ गुण काव्य के शोभाकारक धर्म होते है।
३ मार्ग का सम्बन्ध चित्तवृत्ति या मनस्थिति से नही होता है।	३ गुण विशिष्ट प्रकार की मनस्थिति होती है जिसमे गुणानुसार चित्त की अवस्थाएँ देखी जाती है।
४ मार्गो मे रचना शैली काव्य चिन्तन, प्रादेशिकता और कवि स्वभाव के आधार पर भिन्नता देखी जाती है।	४ गुणो मे वर्ण्य विषय और भावो के अनुसार भिन्नता होती है।
५ काव्य मार्ग मुख्यत शब्द पर आश्रित होते है।	५ गुण शब्द और अर्थ दोनो पर आश्रित होते है।
६ काव्य मार्ग काव्य का शरीर है।	६ गुण काव्य की आत्मा के अधिक निकट है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्यमार्ग एव गुण मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर होता है। काव्यमार्ग जहॉ काव्य के बाह्य शरीर के रूप मे होते है वही गुण की स्थिति अन्त वर्ती और वाह्य दोनो प्रकार की होती है, क्योकि वे वर्ण्य विषय और मन स्थिति दोनो पर अवलम्बित होते है। यद्यपि वर्ण सयोजना का महत्व दोनो के लिए होता है फिर भी शरीर और आत्मा के आधार पर वे परस्पर भिन्न प्रकार के होते है अर्थात् उनमे पर्याप्त अन्तर होता है।

(छ) काव्यमार्ग एवं गुण में साम्य (सम्बन्ध)

प्राचीन काव्यशास्त्रियो ने मार्ग और गुण के सम्बन्ध पर विचार किया है। इस विषय पर दण्डी ने गुण को काव्य मार्गों का मूल तत्व स्वीकार किया है। उन्होने दस गुणो का मार्ग–सापेक्ष विवेचन किया है और मार्ग का आधार ही गुण को मान लिया है। दण्डी के बाद वामन ने रीतियो और गुणो के सम्बन्ध पर विचार किया है। उनके मत मे जब विशिष्ट पद रचना रीति है और यह विशेषता उनमे गुणो के कारण आती है अर्थात् इस विशेषता का मुख्य कारण हुआ गुण, तब यदि गुणो का अभाव होगा तो रीति का रूप सामान्य ही होगा और पदो मे विशेषता न होने के कारण तो पद एक सामान्य रूप मे ही रहेगे, गुण विहीन रीति काव्य मे सौन्दर्य–हीन ही मानी जायेगी। ऐसी स्थिति मे तो काव्य मे चमत्कार उत्पन्न नही हो सकेगा। इस प्रकार वामन रीतियो और गुणो का अविनाभाव सम्बन्ध मानते है।

आनन्दवर्धन ने इस सम्बन्ध मे तीन महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया। पहला तो यह कि क्या रीति और गुण परस्पर अभिन्न है। ? दूसरा यह कि क्या रीति गुणो पर आश्रित है ? और तीसरा यह कि क्या गुण रीति पर आश्रित होते है। आनन्दवर्धन से पूर्व आचार्य वामन ने रीति और गुण को अभिन्न स्वीकार किया था और उद्भट ने गुणो को रीति पर आश्रित माना था। आनन्दवर्धन ने इन दोनो मान्यताओ का खण्डन किया। उनके अनुसार रीति तो पद रचना होती है और गुण उस पद रचना के शोभाकारक तत्व होते है, पद रचना मे प्राण फूँक कर उसे आकर्षक बनाते है। अत

दोनो मे अभेद की स्थिति तो हो ही नही सकती। इसके अतिरिक्त गुणो का रीति पर आश्रित होना भी नही माना जा सकता क्योकि रीति या पद रचना अनियत होती है जबकि गुण नियत होता है। श्रृगारवादी अभिव्यक्ति के लिए माधुर्य गुण नियत है, उसमे ओज गुण की स्थिति हो ही नही सकती। अत गुण को रीति पर आश्रित मान लेने का अर्थ यह होगा कि गुणो को भी रीति की भाति ही अनियत मान लिया जाये जो कि दोष पूर्ण होगा।

इस सम्बन्ध मे अब तीसरा विकल्प बच रहता है और वह है कि रीति गुणो पर आश्रित है। इस सम्बन्ध मे आनन्दवर्धन कहते है कि "गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्" अर्थात् सघटना अथवा रीति गुणाश्रित होती है। इस सम्बन्ध मे यह तो निर्विवाद है कि रीति अथवा सघटना का उद्देश्य रस की सशक्त अभिव्यक्ति करना होता है और रस की अभिव्यक्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि सघटना गुणयुक्त हो, तथापि आनन्दवर्धन यह तो अवश्य स्वीकार करेगे कि किसी भी सघटना, पद रचना का स्वरूप–निर्धारण माधुर्य, ओज आदि गुणो के आधार पर ही होता है।

वस्तुत शब्द–गुम्फ, वर्ण–गुम्फ रूपिणी पद रचना का स्वरूप माधुर्य, ओज आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना और रस की अभिव्यक्ति वह केवल गुण के आश्रय से ही कर सकती है। अत रीति गुण के आश्रित है, परन्तु इसके साथ ही एक बात और है कि गुण भी रीति निरपेक्ष नहीं होते। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि रीति और गुण परस्पर अभिन्न नहीं है, अपितु दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। निस्सन्देह रीति और गुणो मे गुणो का सापेक्ष महत्व अधिक है, परन्तु गुण भी रीति से प्रभावित अवश्य होते है।

षष्ठोन्मेष
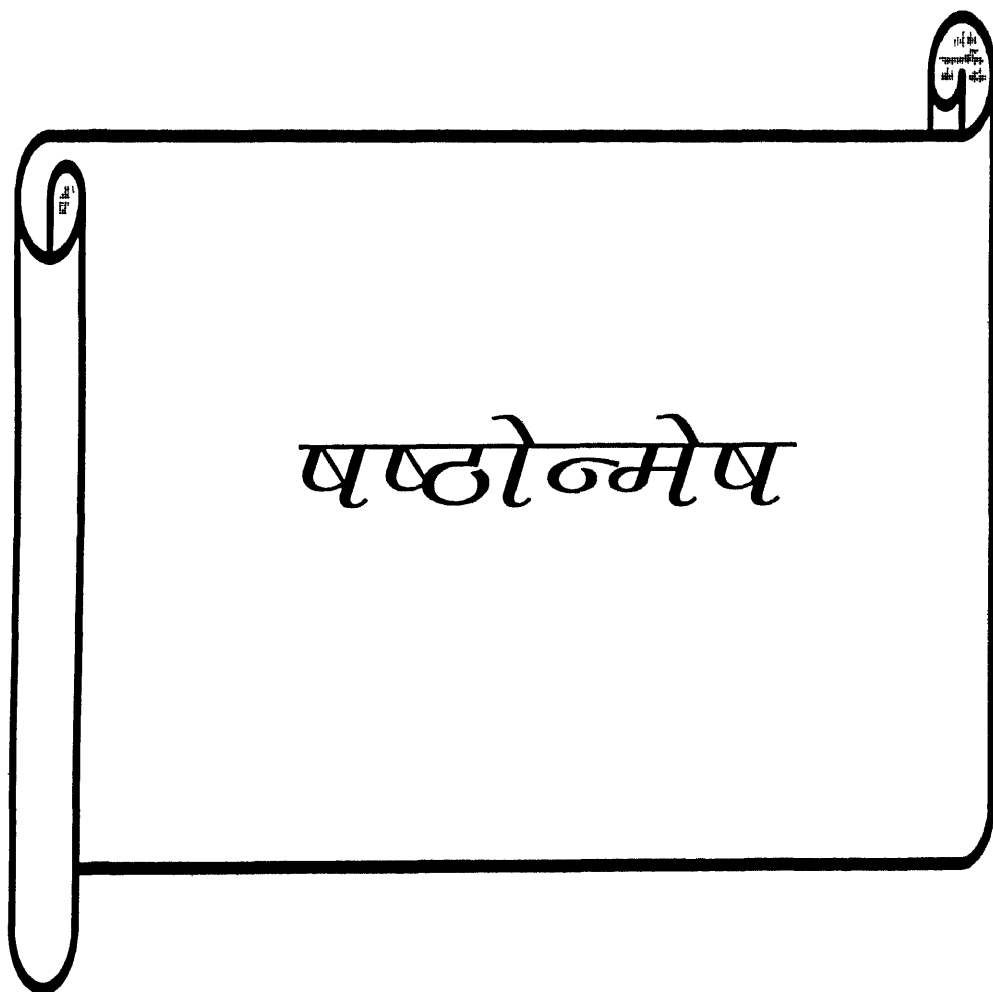
काव्यमार्ग एवं अलंकार

(क) अलंकार

भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य की आत्मा को लेकर बहुत विचार–विमर्श हुआ है। इस प्रसग मे वामन का नाम सर्वोपरि है और उनके बाद के काव्यशास्त्रियो ने तो अपने–अपने ढग से काव्य की आत्मा का विवेचन किया है। जिस काव्यशास्त्री को काव्य का जो अग अच्छा तथा महत्वपूर्ण लगा, उसने उसी को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया और इस प्रकार ११वी शताब्दी से लेकर तीन–चार सौ वर्षो तक यही क्रम चलता रहा। रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय आदि विभिन्न सम्प्रदाय और सिद्धातो का जन्म इन्ही तीन–चार सौ वर्षो मे हुआ था। इस सम्बन्ध मे एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि अलकार–सम्प्रदाय का अपना स्वतत्र अस्तित्व होते हुए भी ऐसा कोई काव्यशास्त्री नही हुआ है, जिसने अलकार को काव्य की आत्मा घोषित किया हो। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे, "अलकार को काव्य की आत्मा कहने वाला सम्भवत कोई आचार्य नही है। आगे चलकर जब काव्यात्मभूत समस्त तत्वो का आकलन किया जाने लगा तो अलकार के महत्व को देखते हुए विवेचको ने इसे भी एक सम्प्रदाय के रूप मे स्वीकार कर लिया।

अलकार शब्द का अर्थ विद्वानो ने अलकृति अर्थात् अलम् + कृ + क्तिन् = अलकृति तथा अलम् + कृ + घञ् = अलकार – इस प्रकार माना है। 'अलकरोतीत्यलकार' तथा 'अलक्रियतेऽनेन इत्यलकार' इन दो व्युत्पत्तियो के अनुसार जो अलकृत करे उसे अलकार कहते है अथवा जिसके द्वारा अलकृत किया जाय उसे अलकार कहते है। अलम् एक अव्यय पद है जिसका अर्थ है योग्य, पर्याप्त आदि और इस प्रकार अलकार शब्द का आशय ऐसे तत्व से हुआ जो पर्याप्त अथवा योग्य आदि बना दे।

अत अलकार के इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार अलकार काव्य अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते है।

काव्य मे प्राप्त सम्पूर्ण तत्व जो काव्य मे शोभा का आधान करते है, अलकार के व्यापक अर्थ मे उसके अग माने जाते है। इस अर्थ मे तो कवि की ,उक्ति का जो सौन्दर्य है वह भी अलकार ही होता है। अलकार की प्रधानता के रूप मे जो प्रमाण हमारे समक्ष उपस्थित है वह यह कि काव्यशास्त्र मे इसकी महिमा अपनी चरम सीमा को प्राप्त है। इसी कारण हम काव्यशास्त्र को एक नाम से अभिहित करते है, वह नाम है— 'अलकारशास्त्र'। दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते है कि अलकार की एक नयी भूमिका यह भी है कि अलकार वेदार्थ के उपकारक भी होते है। इसके बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती है। वेदार्थ के स्वरूप को भली—भॉति समझने के लिए अलकार आवश्यक ज्ञात होता है। अलकारो को ठीक—ठीक यथार्थ रूप मे समझने से तात्पर्य है उनका ध्वनि के साथ ठीक—ठीक सम्बन्ध समझना। अलकार शब्द प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। वामन जैसे आचार्य के द्वारा तो 'सौन्दर्यमलकार' और 'काव्य—ग्राह्यमलकारात्' ये अलकार की परिभाषा दी गयी, जिससे स्पष्ट है कि वामन सौन्दर्य को ही अलकार मानते है तथा काव्य को अलकार के कारण ही ग्राह्य भी माना गया है। अलकार शब्द को उनके द्वारा दो अर्थो मे प्रयुक्त किया गया है। निसन्देह अलकार सिद्धात को अलकारवादियो ने अत्यन्त विस्तृत रूप देकर उसे काव्य की आत्मा के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

'अलकार सम्प्रदाय' के आचार्यो ने अलकार का क्षेत्र व्यापक माना। उन्होने रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशबलता तथा भावशान्ति को क्रमश रसवत्, प्रयेस्वत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित अलकार का ही दूसरा रूप माना। सम्पूर्ण अलकार प्रपच काव्य के काव्यवाचक भाव पर आश्रित है। ऐसी मान्यता ध्वनिवादियो ने प्रकट की है जिसका कारण यह है कि सम्पूर्ण अर्थालकार केवल अभिधान प्रकार के ही है। दूसरी एक अन्य

मान्यता इस क्षेत्र मे विद्वानो की यह है कि अलकार तो कथन शैली के विच्छित्ति प्रकार है और जितनी कथन शैलियॉ सम्भव हो सकती है इतने ही अलकार भी उपमा श्लेषादि भणिति वैचित्र्य के अनुरूप निबन्धित हुए है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय साहित्यशास्त्र मे अलकार की अनेक परिभाषाए दी गयी है और उन सम्पूर्ण काव्यालकारो के स्वरूप को देखते हुए कह सकते है कि – वर्ण्य वस्तु के रूप, गुण, क्रिया मे वृद्धिकारक उसे स्पष्टतया एव लाघव के साथ व्यक्त करने वाला, रसहीन काव्य मे उक्तिवैचित्र्य का आधार करने वाला, काव्य का श्रवण करने वाले के मन मे विस्मयपूर्ण चमत्कार को उत्पन्न करने वाला धर्म अलकार ही है।

(ख) अलंकार का स्वरूप

प्राचीन काव्यशास्त्रियो के मतानुसार काव्य के ऐसे सभी तत्व जो उसे रमणीयता प्रदान करते है अथवा रमणीयता का अभिवर्धन करते है, अलकार कहे जायेगे। यह तो निर्विवाद है कि व्यवहार मे शब्दो का प्रयोग केवल अर्थ–प्रत्यायन के लिए ही किया जाता है और इस कारण इसके विपरीत काव्य मे शब्दो का प्रयोग एक नये और रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए किया जाता है। लोक–व्यवहार मे शब्दो का प्रयोजन अथवा साध्य अर्थ–प्रत्यायन होता है तो काव्य मे शब्द प्रयोग का प्रायोजन रमणीयार्थ अथवा अर्थ–चमत्कार की उत्पत्ति करना होता है। अत प्राचीन काव्यशास्त्रियो की दृष्टि मे "जो तत्व काव्य को लोक और शास्त्र के क्षेत्र से ऊपर उठाकर चमत्कार सम्पादन और रमणीयता के अनुभावन मे कारण हो वे सब अलकार शब्द से अभिहित किये जाने के अधिकारी है। चाहे वे लक्षण हो, गुण हो या स्वय रस ही क्यो न हो।" कदाचित् इसी कारण कतिपय काव्याचार्यो ने इसको भी अलकार के व्यापक अर्थो मे ग्रहण किया है। प्रमुख आचार्यों के अलकार सम्बन्धी विचारो को हम अधोवत् प्रस्तुत करते हैं

१. भामह

भामह का अलकार–निरूपण पर्याप्त व्यापक और महत्वपूर्ण है। भामह ने कही भी अलकार को काव्य की आत्मा नही कहा है। उन्होने अलकार का स्पष्ट लक्षण भी नही किया, फिर भी वे अलकारवादी है तो कैसे ? सम्भवत इसलिए कि उन्होने–अलकार को काव्य–शोभा का आधायक तत्व बताया। उस काव्य के अलकार जो रूपक आदि है उनका कुछ आलकारिको ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। रमणी का सुन्दर मुख भी अलकार के बिना नही सोभाता।[१] दूसरे (आलकारिक) रूपक आदि अर्थालकारो को बाह्य कहते है। वे सज्ञा और क्रिया के सौन्दर्य को ही वाणी अलकार मानते है। वह काव्य वस्तुत यह सौशब्द्य (शब्द–सौन्दर्य) है, क्योकि अर्थ–सौन्दर्य ऐसा (चमात्कारजनक) नही होता।[२]

२. दण्डी

भामह के पश्चात् दण्डी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रक्षलते।'[३]

दण्डी के मतानुसार अलकार काव्य का शोभाकारक धर्म होता है, अर्थात् अलकार का धर्म काव्य की शोभा का अभिवर्धन करना है। धर्म एक सहज गुण की तरह होता है और जब हम अलकार के धर्म की बात करते है तो हमारा आशय अलकारो के सहज गुणो से होता है। दण्डी के मत मे अलकारो के बिना काव्य की स्थिति ही नही हो सकती। इसी प्रसग मे दण्डी ने यह भी कहा है कि सन्धि और उसके अग, वृत्ति और उसके अग

---

१ **रूपकादिरलकारस्त-स्यान्यैर्बहुधोदित ।**
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।। काव्यालकार, १/१३

२ **रूपकादिमलकार बाह्यमाचक्षते परे।**
सुपा तिड्गा च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलकृतिम्।। – वहीं, १/१४

३ काव्यादर्श, २/१

और लक्षण आदि भी अलकारो के अन्तर्गत आते है।[1] (इस प्रकार दण्डी ने ऐसे सभी तत्वो को अलकार का स्थान दे दिया है जो कि काव्यत्व सम्पादन की दृष्टि से उपादेय कहे जा सकते है। अत भामह की तुलना मे दण्डी ने अलकारो को अधिक विस्तृत आधार प्रदान किया। दण्डी की इस परिभाषा ने अलकारो को एक सुदृढ आधार प्रदान किया।

३. वामन

आचार्य वामन ने उपमा, रूपकादि की परिधि से ऊपर उठकर अलकार शब्द को अन्तस्तल से निहारा और इसकी रूप—सज्जा पर मुग्ध होकर इसे 'काव्य का सर्वस्व सौन्दर्य है' ऐसा नामकरण कर दिया जो सम्पूर्ण काव्यशास्त्र मे अद्भुत है, अप्रतिम है एव अकल्पित है। इस प्रकार वामनाचार्य ने अलकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करते हुए यो लिखा —

'सौन्दर्यमलंकारः।-[2]

फिर इसकी वृत्ति मे इसका विशद विवरण इस रूप मे दिया— अलकृतिरलकार। करणव्युत्पत्या पुनरलकारशब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते।

अर्थात् वस्तुत तो अलकार सज्ञा सौन्दर्य को ही दी जा सकती है, उपमा आदि जो अलकार कहा जाता है वह तो सौन्दर्योत्पत्ति मे सहायक होने के कारण। कहने का अभिप्राय यह है कि अलकार फल है, उपाय नही। जैसे पूजा अर्चना—विधि मे मूर्ति भगवान का कल्पित साधन मात्र है वैसे ही साधन या उपाय के लिए अलकार शब्द का प्रयोग है।

आचार्य वामन ने अलकारो का दोहरा विवेचन प्रस्तुत किया और उनके इस विवेचन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि अलकार का सुदृढ आसन हिल गया ओर आचार्य वामन के बाद पहली बाद अलकारो को

---

१ **यच्च सध्यगवृत्यग लक्षणाद्यागमान्ते।**
व्यावर्णितमिद चेष्टमलकारतयैव न ।। काव्यादर्श, २/३६७

२ काव्यालकारसूत्राणि, १/१/२

काव्य का अस्थिर धर्म मानने की बात सामने आयी। आचार्य वामन ने मुख्यत दो बाते कहीं—पहली तो यह है कि काव्य अलकार के कारण ग्राह्य होता है, दूसरी यह कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण होते है और उस शोभा का अभिवर्धन करने वाले अलकार होते है वामन के शब्दो मे –

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।'[१]

अर्थात् काव्य अलकार के कारण ग्राह्य है। इस प्रकारवामन ने एक ओर तो अलकारो के कारण काव्य की ग्राह्यता सिद्ध की और दूसरी ओर गुणो को काव्य का नित्य धर्म और अलकारो को अन्तिम धर्म स्वीकार किया।

४. उद्भट - अलकारवादी काव्यशास्त्रियो मे उद्भट का नाम भी उल्लेखनीय है। उद्भट सच्चे अर्थो मे भामह के अनुयायी थे। उन्होने अलकार की जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की है वे वस्तुत भामह की एतद्विषयक स्थापनाओ का विकसित रूप ही कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उद्भट ने भामह द्वारा प्रस्तुत चिन्तन को और अधि ाक सुदृढ और व्यापक आधार प्रदान किया। अत अद्भट को अलकार सम्प्रदाय के सर्वाधिक आदरणीय आचार्य का स्थान प्राप्त हुआ।

५. रूद्रट - अलकार सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख आचार्य है रुद्रट। इनके ग्रन्थ का नाम भी काव्यालकार है। इस ग्रन्थ मे इन्होने व्यापक एव उदार दृष्टि से अलकारो का सुन्दर निरुपण किया है। रस और भाव को अलकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी, उसका सशोधन सबसे पूर्व रुद्रट ने ही किया। उन्होने रसवत् आदि को अलकार न मानकर एक बहुत बडे भ्रम का निवारण किया।

रुद्रट के उपरान्त भी अलकार सम्प्रदाय का विकास होता रहा है किन्तु वह अलकारो की सख्या बढाने या परिभाषाओ मे हेर–फेर करने तक ही सीमित रहा है। इस बीच मे ध्वनि सम्प्रदाय ने जन्म लेकर ध्वनि को

---

१ काव्यलकारसूत्राणि, १/१/१

काव्य की आत्मा घोषित किया और अलकार को निम्नतर स्थान दिया। ध्
वनिवादियो के अनुसार अलकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने मे स्वतत्र है और न काव्य का अनिवार्य अग ही है। ध्वनिवादी आचार्य अलकार काकार्य काव्य को सुसज्जित करना मात्र मानते है। ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना के बाद भी यह सम्प्रदाय भारतीय साहित्य शास्त्र मे मान्य रहा।

६. मम्मट

अलकार सम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा की आचार्य मम्मट ने। मम्मट ने अलकार को उचित गौरव प्रदान किया। अलकार का लक्षण उन्होने इस प्रकार दिया –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय॰।।[1]

अलकारो का स्वरूप गुणो से नितान्त भिन्न है। वे भी रस के उपकारक (रसोत्कर्षक) तो है किन्तु रस के साक्षात् उपकारक नही, परम्परया उपकारक हैं। रस के अग अर्थात् रस–व्यञ्जना के उपकरण रूप जो शब्द तथा अर्थ है, अलकार उनमे उत्कर्ष की स्थापना करते है और शब्द तथा अर्थ की शोभा को बढाते हुए काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षक भी हो जाते है। ठीक इसी प्रकार जैसे हार आदि कण्ठ आदि की शोभा बढाते हुए कामिनी सौन्दर्य के वर्द्धक होते है, अत ये रस के धर्म नही हैं तथा रसधर्मरूप गुणो से पृथक् है। इस प्रकार मम्मट ने अलकारो को काव्य के अगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना। अलकार काव्य के अस्थिर धर्म है।

मम्मट के बाद के आचार्यो ने अलकारशास्त्र मे कोई विशेष योग नही दिया, परन्तु उसमे सन्देह नही कि रुय्यक ने 'अलकार सर्वस्व', हेमचन्द्र ने

---

१ काव्यप्रकाश, ८/६७

'काव्यानुशासन' वाग्भट ने 'वाग्भटालकार', जयदेवपीयूषवर्ष ने 'चन्द्रालोक तथा अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक टीकाएँ लिखकर ध्वनि सिद्धात के विरोध मे एक बार फिर अलकार की महत्ता को काव्य मे स्थिर करने का प्रयास किया। चन्द्रालोक के प्रणेता जयदेव ने तो यहाँ तक कह दिया था—

अगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलकृतिः।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती।।[1]

अर्थात् जो शब्दार्थ विशिष्ट काव्य को अलकार रहित मानते है वे फिर अग्नि को अग्नित्व से रहित भी मान सकते है, किन्तु ध्वनि और रस सिद्धातो के सम्मुख इनका मत अधिक मान्य न रह सका।

७. विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने अलकार को परिभाषित करते हुए लिखा है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिन·।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।[2]

अर्थात् शोभा को अतिशयित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है वे अगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलकार कहलाते है। जैसे मनुष्यो के अगद आदि अलकार होते है उसी तरह उपमा आदि काव्य के अलकार होते है। इस प्रकार विश्वनाथ ने भी कमोबेश मम्मट का ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अलकार की दो प्रकार की परिभाषाएँ प्रचलित हुई। पहले के प्रतिनिधि आचार्य है दण्डी जो अलकार को काव्य की शोभा करने वाले धर्म मानते है। इससे दो अर्थ निकलते है — (१) अलकार काव्य के कर्म अर्थात् सहज गुण है और (२) काव्य की शोभा अथवा सौन्दर्य अलकारो पर ही निर्भर है। दण्डी की

१ चन्द्रालोक, १/८

२ साहित्यदर्पण, १०/१

परिभाषा अलकार सम्प्रदाय का सिद्धान्त वाक्य रही। बाद मे जब ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय की स्थापना स्थिर रूप से हो गयी तो अलकार की परिभाषा भी परिवर्तित हो गयी। रसवादी विश्वनाथ के अनुसार अलकार काव्य की शोभा बढाने वाले रस, भाव, आदि के उत्कर्ष मे सहायक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है। तात्पर्य यह है कि (१) अलकार काव्य के सहज एव अनिवार्य गुण नही है, केवल अस्थिर धर्म है, अर्थात् कभी वर्तमान रहते है कभी नही। (२) काव्य की शोभा या सौन्दर्य अलकार पर निर्भर नही है। सत्काव्य मे अलकार जहॉ वर्तमान भी रहता है, वहॉ शोभा की सृष्टि नही करता, केवल वृद्धि ही करता है। (३) काव्य का सौन्दर्य है रस अलकार का गौरव उसी का उपकार करने मे है अर्थात् सत्काव्य मे अलकार का स्वतत्र अस्तित्व भी मान्य नही है।

(ग) अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्य का पुजारी होता है और सौन्दर्य के पूर्ण निखार के लिए उसे अलकरण की अपेक्षा रहती है। प्रकृति के सुरम्य दृश्यो, हृदय के उन्मुक्त विलासो मे सौन्दर्य खोजने वाला मनुष्य केवल सुन्दरता देखकर ही तृप्त नहीं हो जाता अपितु वह स्वय भी सुन्दर दीखना चाहता है। उसके अन्तर्मन मे सदैव यही कामना रहती है कि दूसरे लोग उसकी सुन्दरता की सराहना करे। सुन्दरता एक व्यापक अवधारणा है। सुन्दरता का अर्थ केवल शारीरिक सौन्दर्य नहीं होता अपितु उसके भतर मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य सिमट आता है। अपनी बात को सुन्दर ढग से कहना, अपने अन्तर्मन के सौन्दर्य को प्रकाशित करना – यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और अलकार के पीछे यही मानवीय प्रवृत्ति अथवा मनोवैज्ञानिक धारणा कार्यरत होती है। कवि के पास भी हमारी, आपकी–सी अनुभूतियॉ होती है और वह उन अनुभूतियो को अधिकाधिक प्रभावशाली ढग से व्यक्त करता है और इसी प्रक्रिया मे अलकारो का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अलकरण की प्रवृत्ति मानव स्वभाव है और यही इसका मनोवैज्ञानिक आधार है।

कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते है। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्त कर देती है और उनकी लोकप्रियता के कारण उद्दीप्त भावनाएँ स्वत ही अलकृत हो जाती है। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इस प्रकार हम कह सकते है कि अलकार का मूल कारण है भावोद्दीपन।

अलकार किसी भी विषय को उक्ति वैचित्र्य रूप मे कहने का एक साधन है। वस्तुत अलकार का प्रयोग उक्ति को रोचक एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिए होता है। ऐसा करने के लिए हम सदृश लोक प्रसिद्ध वस्तुओ से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन मे अच्छी तरह बैठाते है, बात को बढा–चढाकर उसके मन का विस्तार करते है, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमे आश्चर्य की उद्भावना करते है। अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करते उसकी वृत्तियो को अन्वित करते है। बात को घुमा–फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते है अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उनके मन मे कौतूहल उत्पन्न करते है। कवि की इस प्रवृत्ति के कारण दण्डी आदि ने अतिशयोक्ति को ही समस्त अलकारो का मूल कहा है। इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को तथा वामन ने औपम्य अथवा चमत्कार को मूल माना है।

कवि की सौन्दर्यप्रियता के कारण ही विभिन्न प्रकार के अलकारो का अस्तित्व काव्य मे दिखाई पडता है। अलकारो का मनोवृत्तियो से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि कवि अपने–अपने रूचि वैशिष्ट्य के अनुसार अलकारो का प्रयोग करते है। अधिक आडम्बर–प्रिय तथा चमात्कार प्रिय कवि की सृष्टि मे शब्दालकारो का और सच्चे भाविक की रचना मे अर्थालकारो का स्वाभाविक नियोजन मिलता है। इस प्रकार विद्वानो ने मनोवैज्ञानिक आधार पर ही अलकारो के मुख्यत दो भेद किये है –

अलंकार और अलंकार्य का भेद

यह प्रश्न आज भी भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के लिए विवाद का विषय बना हुआ है। जिस प्रकार काव्य के भाव और कला दो पक्ष हैं उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्री अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अन्तर मानते हैं। अलंकार्य, जिसके अन्तर्गत रस, वस्तु आदि आते हैं, भाव पक्ष से सम्बन्धित है। अलंकार का सम्बन्ध उसके कला पक्ष से है। अतः भाव पक्ष और कला पक्ष में जो भेद है, वही अलंकार और अलंकार्य में हो सकता है, परन्तु इसके साथ–साथ भाव और कला पक्ष में जो सम्बन्ध है वही अलंकार्य और अलंकार में भी है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार बताया गया है।

अलंकारों के मूल में अतिशयत्व की प्रक्रिया विद्यमान रहती है और इसी अतिशयता को शास्त्रीय भाषा में स्पष्टता, अतिशयोक्ति, चमत्कार–वक्रोक्ति आदि कुछ भी कहा जा सकता है। अतिशयता का अर्थ सामान्य को असामान्य और असामान्य को सामान्य कहना है और निस्सन्देह इस प्रक्रिया में मानवमन का विस्तार परिलक्षित होता है। यही नहीं सम्पूर्ण अलंकार सम्प्रदाय के पीछे मानव मन के इसी विस्तार के दर्शन किये जा सकते हैं। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन के विस्तार को ही अलंकार मात्र की मूल प्रक्रिया माना जाना चाहिए। अत्युक्ति इसी विस्तार की सीमाहीन सीमा है। संगति में यही विस्तार अपने आपको एक विशिष्ट सापेक्षिकता में अन्वित करता है। विरोध और गोपन में यही विस्तार एक अवरोधमूलक प्रक्रिया ग्रहण करता है।" मन का यह विस्तार भी दो प्रकार का होता है – ऋजु विस्तार और अवरोधमूलक। ऋजु विस्तार मन की अनुकूल दिशा में होता है जबकि अवरोधमूलक विस्तार प्रतिकूल दिशा में होता है।

(घ) काव्य में अलंकारों का स्थान

अलकारो के सम्बन्ध मे यह निर्विवाद है कि उक्ति चमत्कार को ही अलकार कहते है। किसी बात को अनूठे ढग से कहने के लिए अलकारो का आश्रय लिया जाता है। इसी के साथ काव्य मे अलकारो के स्थान से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्न जुडा हुआ है और उस प्रश्न को भी अधिक बोधगम्य बनाने के लिए दो भागो मे बॉटा जा सकता है – (१) क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार को काव्य कहा जा सकता है ? तथा (२) क्या काव्य मे उक्ति चमत्कार होना अनिवार्य है ?

भारतीय काव्यशास्त्रियो ने इन प्रश्नो के अपने ढग से उत्तर दिये है और अध्ययन की सुविधा के दृष्टि से इन काव्य शास्त्रियो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है। एक तो अलकारवादी आचार्यो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही है, क्योकि ये सारे आचार्य अलकार को काव्य का नित्य धर्म मानकर चलते है। इन आचार्यो मे भामह, दण्डी, रुद्रट, तथा उद्भट आदि आचार्य उल्लेखनीय है। रसवादी आचार्यो मे ऐसे ही आचार्यो को परिगणित किया जाता है जो यह मानकर चलते है कि अलकार काव्य का नित्य धर्म नही और अलकार रसभाव तथा वर्ण्य विषय के उत्कर्ष मे सहायक तत्व होते है। इन रसवादी काव्यशास्त्रियो मे मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा क्षेमेन्द्र आदि काव्याचार्यो के नाम उल्लेखनीय है।

जहॉ तक प्रश्न के पहले भाग का सम्बन्ध है तो अलकारवादी यह कहते है कि प्रत्येक उक्ति चमत्कार ही काव्य होता है जबकि रसवादी आचार्यो के मतानुसार कोरा उक्ति चमत्कार अथवा अलकारो के प्रयोग करने मात्र के उद्देश्य से प्रयुक्त अलकार काव्य नही कहला सकते। भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी–कभी सहायक होने वाली उक्ति अलकार है। इस वाक्य मे कभी–कभी का प्रयोग अलकारो की अनित्यता का ही परिचायक है।

अलकार काव्य का बहिरग तत्व है अथवा अतरग ? यह प्रश्न भी विवेचना का विषय है। कतिपय रसवादी आचार्यो ने अलकार को बहिरग तत्वा नही माना है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार अलकारो को नितान्त बहिरग तत्व नही माना जा सकता। उनके अनुसार ये अलकार न तो बाह्यारोपित होते है, और न वे स्वतत्र रूप से अतरग ही होते है। इस प्रसग मे रसवादी भोजराज का विवेचन भी उल्लेखनीय है। अनके मतानुसार अलकार आभूषणो की तरह होते है और वे तीन प्रकार के होते है – बाह्य आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर। ध्वनिकार और रसवादी भोजराज दोनो के विवेचनो का अन्य आचार्यो द्वारा समर्थन नहीं किया गया, जबकि प्राचीन अलकारवादी आचार्य अलकार को बाह्य अग या तत्व के रूप मे ही देखते थे।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अलकार काव्य के बाह्य अग होते है तथा अनियत रूप से काव्य की शोभा मे वृद्धि करने वाले धर्म होते है।

काव्यमार्ग एवं अलंकार में अन्तर

चतुर्थोन्मेष मे किये गये काव्य मार्गो के आत्मत्व की समीक्षा और यहॉ पर किये गये अलकारो के विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्य मार्ग काव्य रचना की एक पद्धति, रीति अथवा विधि है जबकि अलकार उस रचना मे सौन्दर्य या शोभा उत्पन्न करने वाले तत्व होते है। मम्मटाचार्य के मतानुसार काव्य मे वृत्ति यारीति नित्य धर्म की तरह होती है और इसके अभाव मे काव्य मे रस, गुण तथा अलकार अर्थहीन हो जाते है जबकि इसके विपरीत अलकार काव्य के बहिरग तत्व की भॉति होते है और उनके अभाव मे भी काव्य की स्थिति सम्भव होती है। 'अनलङ्कृती पुन क्वापि' से आचार्य मम्मट सम्भवत यह स्पष्ट करना चाहते है।

काव्य मार्ग एव अलकार मे भेद रूपी खाई उस समय और चौडी हो गयी जब वामनाचार्य ने रीति को काव्य की आत्मा बताया और अलकार को सौन्दर्य मात्र कहा। वहॉ पर अलकार को काव्य मे अत्यन्त गौण स्थान प्राप्त हो गया। वामन ने अलकार को रीति का एक अग मात्र बना दिया और

रीति के क्षेत्र को अत्यधिक व्यापक रूप मे स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त रीति सिद्धात मे अलकार सिद्धात की अपेक्षा व्यक्ति तत्व एव आत्म तत्व की प्रधानता को आचार्य वामन ने स्वीकार किया। यहॉ आकर अलकार और रीति सिद्धातो मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है।

रीति और अलकार का भेद स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते है कि "रीति" ऐसी रचना है जो अपनी वर्ण योजना, समस्तपदो के प्रयोग, उचित अर्थवान् शब्दो के गुम्फन तथा भावो एव विचारो के क्रम बन्धन से मन प्रसाद करती है, अलकार रचना मे परिस्फुट सौन्दर्यदायक तत्व है।"

काव्यमार्ग एव अलकार के उपर्युक्त विवेचन को हम सक्षप मे अधोलिखित तालिका से स्पष्ट कर सकते है —

	काव्य मार्ग		**अलंकार**
१	काव्य मार्ग काव्य को निबद्ध करने की पद्धति, रीति, पन्था, वीथी अथवा एक ढग है।	१	अलकार काव्य मे गुणो द्वारा उत्पादित शोभा मे अभिवृद्धि करने वाले धर्म है।
२	मार्ग कवि के स्वभाव,रचनाशैली काव्य–चिन्तन और प्रदेशो के आधार पर परिवर्तित होकर भिन्न–भिन्न प्रकार का होता है।	२	अलकार शब्द और अर्थ के आधार पर भिन्न–भिन्न प्रकार का होता है।
३	काव्य मार्ग मुख्यत शब्द पर आश्रित होते है।	३	अलकार शब्द और अर्थ दोनो पर आश्रित होते है।
४	काव्य मार्ग काव्य की रचना पद्धति होने के कारण काव्य का एक अनिवार्य अग है जिसे काव्य का नित्य धर्म भी कह सकते है।	४	काव्य मे अलकार का होना अनिवार्य नहीं होता, अत उसे काव्य कानित्य धर्म नहीं कह सकते है।
५	काव्य मार्ग को काव्य का शरीर कहा जाता है।	५	अलकार को शोभाकारक तत्व मात्र कहा जा सकता है, शरीर अथवा अत्मा कुछ नही।

इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप मे कह सकते है कि मार्ग काव्य की रचना पद्धति होने के कारण उसका शरीर कहा जा सकता है जबकि अलकार उस काव्य रूपी शरीर की गुण रूपी शोभा मे अभिवृद्धि करने वाला तत्व मात्र होता है। अत काव्य मार्ग और अलकार मे साम्य न होकर वे एक–दूसरे से पर्याप्त भिन्नता रखते है दोनो मे अत्यधिक अन्तर है।

काव्यमार्ग एवं अलंकार में साम्य (सम्बन्ध)

मार्ग एव अलकार के परस्पर सम्बन्धो को लेकर सर्वप्रथम दण्डी ने विचार किया है। आचार्य दण्डी ने गौड मार्ग का वर्णन करते हुए वस्तुत अलकारो का ही विवेचन किया है, भले ही उनका यह सम्पूर्ण विवेचन गुणो के प्रसग मे हुआ हो। अलकार सम्प्रदाय का मत है कि काव्य का सौन्दर्य शब्दार्थ मे निहित है और शब्दार्थ के सौन्दर्य के कारण अलकार। अलकार के अन्तर्गत काव्य सौन्दर्य के सभी प्रकार के तत्व आ जाते है। काव्य का विषयगत सौन्दर्य सामान्य अलकार के अन्तर्गत आ जाता है और शैलीगत सौन्दर्य विशेष अलकार के अन्तर्गत। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य दण्डी के समय तक मार्ग या रीति को अलकार के अन्तर्गत ही माना जाता था।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन का मत मूल रूप से इससे भिन्न न होते हुए भी परिणामत भिन्न हो जाता है। वह भी काव्य का सौन्दर्य शब्द अर्थ मे निहित मानते है। हॉ यद्यपि वह अलकार का प्रयेग काव्य–सौन्दर्य के लिए करते है– काव्य ग्राह्यमलकारात्', परन्तु उनका आशय है– गुण और अलकार। माधुर्यादि गुण सौन्दर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्य धर्म है और उपमा आदि अलकार उसके उत्कर्ष–वर्धक अर्थात् अनित्य धर्म हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार अलकार का क्षेत्र सकीर्ण हो जाता है और वे गुण की अपेक्षा निम्न कोटि के हो जाते है। उनके मतानुसार काव्य मे यदि गुण का मूल सौन्दर्य ही न हो तो अलकार उसे और भी कुरूप बना देते है।

मम्मट ने अनुप्रास नामक शब्दालकार का वर्णन करते हुए रीति की बात कही है। मम्मट के मतानुसार काव्य मे वृत्ति नित्य धर्म की तरह होती है और इसके अभाव मे काव्य मे रस, गुण तथा अलकार आदि अर्थहीन होते है। इसके अतिरिक्त काव्य सौन्दर्य को शब्दार्थ मे निहित मानते है और अलकार को समष्टि सम्प्रदाय उपमादि अलकारो को मुख्य रूप से तथा अन्य गुण, वृत्ति लक्षण आदि को उपचार रूप से अलकार मानता है, वहाँ रीति सम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से तथा उपमादि को गौण अलकार मानता है।

काव्यमार्ग अपनी वर्ण योजना, समस्त पदो के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान शब्दो के चयन तथा भावो एव विचारो के सुचारू क्रमबन्ध के कारण मन का प्रसादन करता है। दूसरे शब्दो मे काव्यमार्ग मे रचना व्यवस्था एव अनुक्रम का सौन्दर्य है। इधर अलकारवादियो ने अलकार को शब्दार्थ का शोभाकर धर्म कहा है, अत अलकार रचना का व्यवस्थित सौन्दर्य न होकर स्फुट सौन्दर्य–विधायक तत्व है। इस प्रकार वामन ने रीति को आत्मा पद से केवल इसी आधार पर गौरवान्वित किया, क्योकि वह अलकार वादियो की अपेक्षा काव्य के बाह्य रूप को कही अधिक चमत्कृत करने के पक्ष मे थे। अत उनका यह बाह्य रूप चकाचौध मात्र न होकर स्थायी उज्ज्वलता का द्योतक है। इस प्रकार आचार्य वामन ने रीति का क्षेत्र व्यापक माना है और अलकार को उसका अग कहा है। इसके अतिरिक्त काव्यमार्ग एव अलकार मे व्यक्तितत्व एव आत्मतत्व का सम्बन्ध है। अलकार सिद्धात मे यद्यपि रसवत् तथा ऊर्जस्वित आदि अलकारो को समाविष्ट किया गया है, किन्तु रसवत् अलकारो का विशेष महत्व नही दिया गया। इस प्रकार काव्यमार्ग एव अलकार मे स्पष्ट रूप से एक अपरिहार्य सम्बन्ध है।

काव्य मार्ग एव अलकार से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि दण्डी के युग तक अलकारो को केवल काव्य के शोभाकारक तत्व माना जाता था मार्ग या रीति वृत्ति आदि को अलकारो के अन्तर्गत माना जाता था। बाद मे वामन के समय मे स्थिति कुछ बदली और मार्ग (रीति) को लेकर और अधिक व्यापक विवेचन और विश्लेषण किया गया, फिर भी अलकारो की उपेक्षा नहीं की गयी।

उपसंहार

चिन्तन की इस सुदीर्घ परम्परा के प्राय सभी महत्वपूर्ण दृष्टिकोणो को समेटने के उपरान्त भी ऐसा प्रतीत होता है कि कही कुछ रह गया है, जिसे पूरा करना अपरिहार्य सा लगता है, किन्तु व्यापकता की कोई सीमा नही होती। कही न कही कमी तो महसूस ही होती है। अन्य सिद्धान्तो की भॉति काव्य के मार्गो के विषय मे चिन्तन होता रहा है और सम्भवत होता रहेगा। आचार्यो ने काव्यमार्गो के विषय मे विशद विवेचन करते हुए अपने–अपने विचार यथोचित रूप मे व्यक्त किये है। प्राचीन से अर्वाचीन काल तक किसी न किसी रूप मे काव्यशास्त्रियो ने इसी परम्परा को आगे बढाया है और बढाते रहेगे। यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसे किसी सीमा से परिसीमित करना औचित्यपूर्ण नही लगता।

ज्ञानराशि के सञ्चित कोश का नाम ही साहित्य है और साहित्य मे साहित्यकार के मनोभाव शब्दो का रूप धारण करते है। साहित्यकार अथवा कवि के इन शब्दो का ताना–बाना ठीक मकडी के जाले के समान ही होता है। जैसे कोई मकडी अपने जाले को दीर्घ वृत्ताकार बनाती है तो कोई सकुचित क्षेत्र मे थोडी सी जगह घेरकर अपना काम चला लेती है, उसी प्रकार कवि भी अपने काव्य का ताना–बाना अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप बुनता है। कोई कवि छोटे–छोटे पदो से सरल एव सुबोध काव्य का निर्माण करता है तो कोई दीर्घ पदावली का आश्रय लेकर क्लिष्ट काव्य की रचना करता है। तृतीय मध्यवर्ती स्थिति वाला कवि मध्यमार्ग का आश्रय लेकर मध्यम काव्य की रचना करता है।

काव्य मानव–सृजित है इसलिए इसे जनहित के लिए होना चाहिए। जो काव्य जनहित से दूर है वह निश्चित रूप से आलोच्य है। वही काव्य जनहित के लिए हो सकता है जो सत्य के नियमो से सञ्चालित हो। काव्य

कुसुम मे यदि भव्यता न हो तो वह चित्ताकर्षक और प्रभावशाली नही हो सकता यही 'सत्य शिव सुन्दरम्' से आपूरित उत्तम काव्य है।

उत्तम काव्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह रमणीय हो, क्योकि सहृदय की सौन्दर्यप्रियता तो विश्रुत ही है। इसके लिए ललित पदावली, विषयानुरूप–रस, गुण, अलङ्कार का होना अनिवार्य होता है। कवि रूपी प्रजापति विषय और अपनी रुचि के अनुसार इन सबको गढ लेता है और बना लेता है काव्य रचना का अपना एक निश्चित मार्ग भी, क्योकि बिना मार्ग के गन्तव्य तक पहुँच पाना असम्भव सा है। काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यो ने काव्यमार्ग के लिए रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली, वीथी, पन्था, पद्धति इत्यादि अभिधानो का प्रयोग किया है, यथा– आचार्य भरत ने सर्वप्रथम अपने नाट्यशास्त्र मे प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है–

'पृथिव्यां नानादेशवेश भाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्ति.।'

भरत के बाद भामह ने यद्यपि मार्गो का नाम्ना निर्देश नही किया, किन्तु उन्होने वैदर्भ और गौड का उल्लेख किया है। तदनन्तर दण्डी ने मार्गो का नाम्ना–निर्देश ही नहीं किया वरन् उसके दो भेद वैदर्भ और गौड बताकर उनके विषय मे विस्तृत चर्चा भी की है। इसके बाद काव्य–मार्ग का विवेचन किसी न किसी रूप मे परवर्ती आचार्य करते रहे।

'परिवर्तन प्रकृति का नियम है' जो कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु मे परिलक्षित होता है। स्वाभाविक सी बात है कि मानव भी इसी प्रकृति का अग है अत उसमे और उसके विचारो मे परिवर्तन होता रहता है। विचार–वैभिन्य भी इसी नियम की अवधारणा की अभिव्यक्ति है। आलोचको, समालोचको, भावको तथा काव्यशास्त्रियो के विभिन्न विचारो मे वैभिन्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि किसी काव्यशास्त्री ने काव्यमार्ग को कुछ माना तो किसी ने कुछ और। भरतमुनि से लेकर वामन

के पूर्ववर्ती आचार्यो ने मार्गो का विवेचन क्षेत्रीयता के आधार पर किया था। किन्तु मार्ग का सम्बन्ध क्षेत्रीयता की सीमा से धीरे–धीरे पृथक् होकर स्वतत्र रूप मे अधिष्ठित होने लगा। आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक तीन रीतियो की स्थापना की जो नाम्ना तो क्षेत्रीयता पर आधारित है लेकिन इनके स्वरूप मे क्षेत्र विशेष की प्रतिबद्धता नही है। ये ही रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते जाते है। रीति की व्याख्या करते हुए इन्होने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है। पद रचना के साथ 'विशिष्ट' विशेषण के प्रयोग से इनका अभिप्राय गुणात्मक पद रचना से है। कालान्तर मे गुण और रीति दोनो परस्पर पर्यायवाची हो गये। आचार्य वामन के 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा' कहने से गुण और रीति के विभेद को मिटा डालने का सकेत मिलता है। यहीं से रीति सम्प्रदाय मे गुण और अलकार का भेद दूर हो गया है। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होने काव्य के शास्त्रीय विवेचन मे विशेषत काव्य–दोष, गुण, रीति आदि के विवेचन मे तो भेद–विभेद को रबर की तरह खीचकर बढाने मे अपने पाण्डित्य का मनमाना प्रदर्शन किया है। रीति का सम्बन्ध धीरे–धीरे 'गुण' तत्व से जुड गया। फलत इसकी सख्या वृद्धि पर अकुश लग सका। आचार्य दण्डी ने रचना पद्धति के अनेक मार्गों मे वैदर्भ और गौड को मान्यता दी। इन्होने वैदर्भ मार्ग के मूलाधार रूप मे दस गुणो की चर्चा की है। गौड मार्ग इन दस गुणो का प्राय विपर्यय है।

परवर्ती आचार्यो ने वामन द्वारा मान्य तीन रीतियो को ही स्वीकार किया। रुद्रट ने लाटी नामक चौथी रीति की भी कल्पना की। इन्होने वैदर्भी को समासरहित पदो वाली तथा अन्य तीन–पाञ्चाली, लाटी, गौडी मे क्रमश स्वल्प, मध्यम और अधिक पदो के समास के आधार पर रीति को दो वर्गों मे बॉटा है। आचार्य विश्वनाथ मे 'लाटी' को मान्यता नही दी। उन्होने इसी 'सघटना' के तीन भेद–असमासा, मध्य समासा तथा दीर्घ–समासा

बताकर 'गुणनाश्रित्य तिष्ठन्ती' के द्वारा सघटना का आधार गुणो को ही बताया है। तात्पर्य यह है कि गुण आधार है उन्ही का आश्रय लेकर सघटना रहती है।

आचार्य कुन्तक ने 'मार्ग' को कवि कर्म का एक ढग माना है। इनके अनुसार मार्ग का सम्बन्ध कवि से है न कि स्थान विशेष से। कवि प्रतिभा से प्रसूत काव्य का मार्ग विभाजन क्षेत्रीय आधार पर करना असगत एव अनुचित है। इन्होने सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग से क्रमश वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियो का नया नामकरण किया। यद्यपि साहित्य शास्त्र मे यह नाम प्रचलित नही हो सका, फिर भी इनका यह नामकरण और विवेचन मौलिक था तथा यथार्थ के अधिक निकट भी था।

काव्यमार्ग विवेचन के अन्तर्गत रीति के साथ–साथ 'वृत्ति' को भी उसके समकक्ष रखा जाता है या यो कहिए कि वृत्ति भी रीति या मार्ग का पर्यायवाची है। जहॉ 'मार्ग' पन्थ को इगित करता है, 'रीति' मे शब्द–योजना पर विचार किया जाता है वही 'वृत्ति' मे अर्थयोजना पर विचार किया जाता है। 'गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न' से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ या अर्थ और शब्द पृथक् नही किये जा सकते है अत रीति और वृत्ति भी सयुक्त ही है। वृत्ति के लिए कुछ विद्वानो ने 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर ने 'काव्य–मीमासा' मे वृत्ति और रीति को एक रूपक के द्वारा समझाया है– विद्यावधू काव्यपुरूष की खोज मे भारत मे चतुर्दिक भ्रमण करती हुई विलक्षण वेशभूषा, विलास एव वचनावली ग्रहण करती है और उन्ही के अनुरूप स्थान–स्थान पर वहॉ के स्त्री–पुरूषो ने वेश भूषाओ को ग्रहण किया। वेशभूषा, विलास और वचन के प्रकार से प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति की उत्पत्ति हुई– 'वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रम वृत्ति, वचनविन्यासक्रम रीति'। तात्पर्य यह है कि रीति–वृत्ति और मार्ग मे कोई तात्विक अन्तर नही है।

ज्ञान सागर अगाध है और मेरा ज्ञान उसकी एक बूँद के सदृश भी नही। मेरा यह अकिञ्चन प्रयास काव्यशास्त्र के जटिल मार्ग सिद्धान्त को बोधगम्य और स्पष्टतर रूप मे रखने का रहा है। अपूर्णता की सत्ता इस विश्व मे चतुर्दिक व्याप्त है, क्योकि यह सच है कि इस विश्व मे कुछ भी पूर्ण नहीं है। अत अपूर्ण को पूर्ण मान लेना प्रमादोन्माद ही कहा जा सकता है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर सकल्पात्मक प्रयाण ही सद्गति है, सम्यक् विचार है। किसी भी प्रकार के सकोच को त्यागकर मैने अपने विचारो को स्वतत्र रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है और अपने इस प्रयास मे मैने मौलिकता का निर्वाह किया है, फिर भी यहॉ पर आचार्य अभिनव गुप्त का वह दृष्टान्त याद आता है, जिसमे पूर्वपक्षी ने उनसे जब यह पूँछा – 'उच्यता तर्हि परिशुद्ध तत्वम्' तो आचार्य अभिनवगुप्त ने उत्तर दिया–

'उक्तमेव हि तत् मुनिना, न तु अपूर्वं किञ्चित्।'

कुछ ऐसा ही मेरा यह प्रयास आपके समक्ष प्रस्तुत है।

सहायक ग्रन्थ सूची

१ अग्नि पुराण, प श्रीराम शर्मा आचार्य, सस्कृति सस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली (उ०प्र०)।

२ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, श्री रामलाल वर्मा 'शास्त्री', नेशनल पब्लिशिग हाउस दिल्ली, १९५६।

३ अलकार शास्त्र का इतिहास, डा कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ।

४ अलकार सर्वस्व (रुय्यक) डा राघवन, मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली, १९६५।

५ अलङ्कार सर्वस्वम्, डा त्रिलोकीनाथ द्विवेदी, चौखम्भासुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

६ अलङ्कार महोदधि, नरेन्द्र प्रभ सूरि, गायकवाड, ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, १९४२।

७ अलङ्कार कौस्तुभ, विश्वेश्वर पण्डित, काव्यमालासस्करण, बम्बई १८९८।

८ अलङ्कार शेखर, (केशव मिश्र) पाडुरग जावाजी, निर्णय सागर प्रेस, १९२६।

९ अभिनव भारती, गायकवाड ओरिण्टल सीरीज बडौदा, १९६३।

१० अभिज्ञान शाकुन्तलम्, हरिदास सस्कृत सीरीज वाराणसी, १९५३।

११ अभिज्ञान शाकुन्तलम्, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, स १९०९।

१२ आचार्य दण्डी एव काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, डा जयशकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ प्र)।

१३ आधुनिक सस्कृत काव्यशास्त्र, डा आनन्द कुमार श्रीवास्तव, ईस्टर्न बुक लिकर्स दिल्ली, १९९०।

१४ औचित्य विचार चर्चा, क्षेमेन्द्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १६६४।

१५ एकावली (विद्याधर) कमलाशकर त्रिवेदी, बाम्बे सस्कृत सीरीज, १६०३।

१६ ऐतरेय ब्राह्मण, डा सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी।

१७ कर्पूर मञ्जरी (राजशेखर) म म प दुर्गाप्रसाद, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १६००।

१८ काव्यालङ्कार (भामह), पी वी नागनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।

१६ काव्यालङ्कार (भामह), प्रो देवेन्द्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा–परिषद, पटना।

२० काव्यालङ्कार (रुद्रट), डा सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली।

२१ काव्यालङ्कार(रुद्रट) नमिसाधु टीका, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १६८३।

२२ काव्यालङ्कार सार सग्रह एव लघु वृत्ति की व्याख्या, डा राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १६६६।

२३ काव्यालङ्कारसूत्राणि, डा बेचन झा, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, १६८३।

२४ काव्यालङ्कारसूत्राणि, श्री नारायण रामआचार्य, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।

२५ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, आचार्य विश्वेश्वर, रामलाल पुरी, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, १६६६।

२६ काव्यादर्श, आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वारणसी।

२७ काव्यादर्श, डा बी एल शर्मा, हसा प्रकाशन जयपुर, १६६१।

२८ काव्यादर्श, धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स १६७३।

२६ काव्यात्म मीमासा, डा जयन्त मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

३० काव्य प्रकाश, डा श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १६६६।

३१ काव्यप्रकाश (बाल बोधिनी टीका सहित), भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १६६५।

३२ काव्यमीमासा, प केदारनाथ शर्मा, सारस्वत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना।

३३ काव्य मीमासा, डा जयन्त मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

३४ काव्यशास्त्र का मार्गदर्शन, कृष्ण कुमार गोस्वामी, एस ई एस एण्ड कम्पनी, दिल्ली।

३५ किरातार्जुनीयम् (भारवि), म म प दुर्गा प्रसाद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६०७।

३६ कुमार सम्भव, प सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।

३७ चण्ड कौशिक (क्षेमीश्वर) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

३८ चन्द्रालोक, महादेव गगाधर बाकरे, गुजराती प्रिटिग प्रेस, बम्बई, १६१४।

३६ तैत्तिरीयोपनिषद्, महादेव चिमणाजी आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय।

४० दशरुपकम्, डा श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ, १६७६।

४१ दशरूपकम् (सावलोक), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १६५५।

४२ ध्वन्यालोक, आचार्य लोकमणि दाहाल, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली।

४३ ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १६५२।

४४ ध्वन्यालोक, डा रामसागर त्रिपाठी मोतीलाल लाल बनारसीदास, दिल्ली।

४५ ध्वन्यालोक, निर्णय सागर प्रेस, १६०६।

४६ नाट्यशास्त्र,डा रविशङ्कर नागर, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली १६८३।

४७ नाट्यशास्त्र, श्री बाबू लाल शुक्ल 'शास्त्री', चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी।

४८ नाट्यशास्त्र, निर्णय सागर प्रेस, १९४३।

४९ न्याय मञ्जरी, काशी सस्कृत सीरीज, वाराणसी।

५० नैषधीयचरितम्, श्रीमन्नारायण, दाधीच प शिवदत्त शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

५१ प्रतापरुद्रीय यशोभूषण, कमलाशकर त्रिवेदी, बाम्बे सस्कृत एव प्राकृत सीरीज।

५२ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा नगेन्द्र, ओरियण्टल बुक डिपो, दिल्ली १९५५।

५३ भामिनी विलास, श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी १९८३।

५४ भारतीय वास्तुशास्त्र, वास्तुविद्या एव पुरनिवेश लखनऊ १९५५।

५५ भारतीय साहित्यशास्त्र, प बल्देव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स वाराणसी, १९६३।

५६ महाभाष्य, युधिष्ठिर मीमासक, श्री प्यारे लाल द्राक्षा देवी न्यास, दिल्ली।

५७ रसगगाधर, साहित्याचार्य श्री मधुसूदन शास्त्री, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी मुद्रणालय, वाराणसी।

५८ रसगगाधर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९८७।

५९ राजतरगिणी, प दुर्गा प्रसाद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९२।

६० राजतरगिणी, रा स पाठशाला, जयपुर, १९५६।

६१ रामायण (वाल्मीकि), आर नारायण स्वामी, मद्रास, १९५८।

६२ व्यक्ति विवेक (महिमभट्ट), चौखम्भा सस्कृत सीरीज, १९३६।

६३ वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक), डा नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—१९५५।

६४ वक्रोक्ति जीवित, श्रीराधेश्याम मिश्र, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, १६६७।

६५ विष्णु पुराण, सस्कृति सस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ प्र)।

६६ विद्धशालभञ्जिका, राजशेखर, कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज, १६४३।

६७ विक्रमाङ्कदेवचरितम्, जार्ज व्हूलर, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, बाम्बे १८७८।

६८ वृत्तरत्नाकर, आचार्य मधुसूदन शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, १६८२।

६६ सस्कृत साहित्य का इतिहास, बहादुरचन्द्र छाबडा, नई दिल्ली, १६५६।

७० सस्कृत साहित्य का इतिहास, डा मगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १६६७ (ए बी कीथ)।

७१ सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति, वृत्ति एव प्रवृत्तियॉ, डा लक्ष्मीचन्द्र शास्त्री।

७२ सरस्वतीकण्ठाभरण, डा कामेश्वर नाथ, चौखम्भा ओरिण्टालिया, वाराणसी।

७३ सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३४।

७४ सगीत रत्नाकर, शाङ्र्गदेव, आनन्दाश्रम सस्करण।

७५ साहित्यदर्पण, श्री शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १६७७।

७६ शिशुपालवधम् (माघ) प दुर्गाप्रसाद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८८८।

७७ श्रीकठचरितम् (मखक), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

७८ डा टुक्कुसुकृत अनुवाद, आक्सफोर्ड, १६८६।

७६ 'दि आइडेन्टिटी, आफ दि यशोवर्मन आफ सम मिडिविअल कायन्स'', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, वो XVII न 3151।

अंग्रेजी भाषा की सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 History of Sanskrit Poetics - S K De, Calcutta- 1960

2 History of Sanskrit Literature - Dr A B Keith

3 History of Sanskrit Poetics - P V Kane, Motilal Banarasi Das Delhi

4 The Kavya Mimansa - Studies in Indology Vol 1 P

5 Srangara Prakash - Dr V Raghavan Punarvasu, Madras 1963

6 Some Concepts of Alankar Shstra - Dr. V Raghavana - The Adyar Library Adyar, 1942

7 Pals of Bengal - R D Banergi